।। श्रीहरिः ।।

ऋग्वेदीय अध्यात्म शतक

मन्त्रानुक्रमणिका

आर्ष (वैदिक)
साहित्य के प्रकाशन
में नये आयाम
स्थापित करनेवाले
स्व० विजयकुमारजी
की पावन स्मृति में

[१]

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥ —ऋ० १/१/१

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का यह प्रथम मन्त्र सृष्टि के आदिकाव्य का प्रथम वाक्य अथवा प्रथम पद्य है। इससे पूर्व की कोई साहित्यिक कृति मनुष्य के समक्ष नहीं आई। इस सूक्त का द्रष्टा मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषि परमात्मा की स्तुति करते हुए उसे अग्नि के नाम से पुकारता है। मन्त्रगत 'अग्नि' परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है, इसकी पुष्टि में ऋग्वेद के भाष्यकार ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद की ही अन्तःसाक्षी प्रस्तुत की है तथा बताया है कि **'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्'** ऋग्वेद १/१६४/४६ का यह मन्त्र इस तथ्य को स्पष्ट घोषित करता है कि एक अद्वितीय परमात्मा को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इस मन्त्र का भाव इस प्रकार है—हम उपासकगण उस अग्निदेव की स्तुति करते हैं जो यज्ञरूप उत्तम कर्मों का सम्पादक है, सृष्टि का आदिकाल से धारणकर्त्ता तथा प्राणिमात्र का हितैषी पुरोहित है, वही हमारे परोपकारयुक्त यज्ञ-कर्मों का होता तथा ऋत्विक् है। उसी ने नाना रत्नों को धारण किया है। मन्त्र में आए अग्नि से भौतिकाग्नि का अर्थ भी लिया जा सकता है, किन्तु वेदों के सभी मन्त्र परमात्मा का ही स्तवन करते हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखकर प्रस्तुत मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ करना ही समीचीन है।

[२]

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त।
स दे॒वाँ एह व॑क्षति॥ —ऋ० १/१/२

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**

उस अग्नि नाम से पुकारे जानेवाले परमात्मा का स्तवन सभी लोग करते हैं। प्राचीन ऋषियों ने भी उसी की महिमा का गान किया है और अर्वाचीन ऋषि भी उसी परमात्मदेव की कीर्ति का बखान करते हैं। 'ऋषि' शब्द वैदिक वाङ्मय में विशिष्ट अर्थों का द्योतन करता है। वेदार्थ में सहायक यास्कीय निरुक्त में ऋषि को वेदमन्त्रों का द्रष्टा, रहस्यज्ञाता तथा धर्म का साक्षात्कर्त्ता कहा गया है, अतः सामान्य विद्वान् की अपेक्षा ऋषि का ज्ञान, अनुभव, विद्या तथा आत्मिक बल विशिष्ट होता है। मन्त्र का भाव यह है कि अग्नि नाम से अभिहित परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना तो पुराने तथा नये सभी ऋषियों ने की है। ऋषि का एक अर्थ 'तर्क' भी है। परमात्मा के स्वरूप, गुण, कर्म, स्वभावादि का ज्ञान तर्क के द्वारा भी होता है। वही परमात्मा अपने भक्तों और उपासकों को इस जन्म तथा इस लोक में नाना दिव्य पदार्थों को प्राप्त कराता है। मनुष्य को जो इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति के लिए मिली हैं, वे भी देव शब्द से अभिहित होती हैं और उन्हें मानव ने ईश्वरीय कृपा से ही प्राप्त किया है। विद्या आदि गुण भी परमेश्वर-प्रदत्त ही हैं। इन देवों—दिव्य पदार्थों और दैवी शक्तियों को देनेवाला अग्नि से भिन्न अन्य कोई नहीं है।

□□

[३]

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ।। —ऋ० १/१/६

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**

भक्त भगवान् की महिमा का कितना बखान करे? उसका किस प्रकार गुणानुवाद करे? शब्दों की भी मर्यादा होती है जबकि परमात्मा के गुण, कर्म तथा स्वभाव दिव्य हैं, वर्णनातीत हैं। तथापि वह कहता है—हे अंगिरा—पृथिव्यादि पदार्थों तथा प्राणादि अंगों का पोषण करनेवाले अग्नि! आप स्वयं अंग हैं, सबके मित्र-तुल्य हैं। सत्य तो यह है कि आपका जो दानशील भक्त है, उसका आप निश्चितरूप से हित-साधन करते हैं, सदा उसके कल्याण में प्रवृत्त रहते हैं। यों तो साधारणतया समस्त सृष्टि का धाता, विधाता एवं रचयिता होने के कारण परमात्मा की कृपा प्राणिमात्र पर रहती ही है, तथापि वह उन लोगों के प्रति विशेष कृपालु तथा दयालु होता है जिनमें दूसरों को दान देने, दूसरों का हित करने की प्रवृत्ति होती है। ऐसे परोपकारप्रिय दानी व्यक्तियों के लिए 'दाशुषे' का प्रयोग हुआ है। परमात्मा भी अंग और अंगिरा है, क्योंकि वह भी मनुष्यों को सुख प्रदान करता है। वस्तुतः दानशील लोगों का हित करना तो अग्नि=परमात्मा का अपना शील है, उसका सत्य है, उसका स्वभाव ही है। अतः अच्छा हो कि हम भी दानशीलता का गुण धारण करें, ताकि परमात्मा-प्रदत्त सुखों की वर्षा हमपर भी होती रहे।

□□

[४]

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ —ऋ० १/१/९

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**

वस्तुतः परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध पिता–पुत्र का है। परमात्मा पिता की ही भाँति जीव को ज्ञान देता है, उसके हितों का साधन करता है। वेदों में अन्यत्र **'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता'** आदि के द्वारा परमात्मा को जीव का पिता व माता कहकर सम्बोधित किया गया है। वस्तुतः पिता से अधिक पुत्र का हितसाधन अन्य कौन कर सकता है? यद्यपि जीवात्मा भी अनादि है, किन्तु शरीर देकर उसे धर्मार्थ–काम–मोक्षरूपी पुरुषार्थ में नियोजित करनेवाला तो परमात्मा ही है, अतः मन्त्र का कथन है कि जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र को ज्ञान देता है, उसको उत्तम सुख तथा उत्तम पदार्थों को प्राप्त कराता है, वैसे ही आप भी मेरे हितसाधक तथा कल्याणवर्धक बनें। स्वस्ति–कल्याण की कामनावाले मन्त्र वेदों में अनेकत्र आए हैं। यहाँ भी उपासक का निवेदन अपने आराध्य के प्रति यही है कि वह उसे स्वस्ति (सुख, हित, मंगल) में नियुक्त करे, जिससे उसका सार्वत्रिक हित एवं कल्याण हो। ऋषि दयानन्द ने इस प्रसंग में लिखा है—"हे भगवन्! जैसे पिता अपने पुत्रों का अच्छी प्रकार पालन करता है, उसे उत्तम शिक्षा देकर उन्हें शुभ गुण–कर्मयुक्त बनाता है, आप भी हमें उसी प्रकार शुभ गुणों और शुभ कर्मों में नियुक्त करें।" निश्चय ही पिता से अधिक सन्तान का हितचिन्तक अन्य कोई नहीं, और परमात्मा ही हमारा परमपिता है।

[५]

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत।
सखायः स्तोमवाहसः॥ —ऋ० १/५/१

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**

मनुष्य-जीवन का पारमार्थिक कर्त्तव्य क्या है? क्या उसे परमात्मा ने इस सृष्टि में केवल सुखभोग के लिए ही भेजा है? यदि वह स्वजीवन का लक्ष्य केवल भौतिक सुखों और इन्द्रियों से मिलनेवाले विषयों को प्राप्त करना ही मानता है तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं है। सत्य तो यह है कि इस धरित्री पर मनुष्य के लिए कुछ उच्चतर कर्त्तव्य निर्धारित किये गए हैं और उनमें से एक है प्रभु की उपासना। आज हम देखते हैं कि सांसारिक जन व्यर्थ के क्रियाकलाप में अपना जीवन नष्ट कर देते हैं। मनोरंजन के नाम पर तो वे पर्याप्त समय नष्ट करते हैं, किन्तु आध्यात्मचिन्तन तथा ईश्वरोपासना में स्वयं को नहीं लगाते। ऐसे ही मनुष्यों को सम्बोधन कर मन्त्र कहता है—हे मेरे मित्रो! प्रशंसनीय गुण-कर्मोंवाले महानुभावो! आओ, यहाँ इस उपासना-स्थल पर मिलकर बैठो। हम सब सामूहिक रूप से उस ऐश्वर्यशाली इन्द्र परमात्मा की महिमा का गान करें। हमारे सारे स्तवन और भजन, हमारी समस्त प्रार्थनाएँ एवं विनय उस महान् परमात्मा के लिए ही होनी चाहिए। हम क्षुद्र लोगों की प्रशंसा क्यों करें? उनका मिथ्या गुणानुवाद करने से हमें क्या मिलेगा? परमात्मा ही हमारा अत्यन्त निकट का सखा है, वही एकमात्र गुणों का केन्द्र है, स्तवनीय एवं वंदनीय है। अतः हम उसी का गुण-कीर्तन करें।

□□

[६]

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्॥ —ऋ० १/७/७

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**

इस मन्त्र में परमात्मा को इन्द्र कहा गया है। परम ऐश्वर्ययुक्त तथा समस्त ब्रह्माण्ड का शासक होने से परमात्मा का यह इन्द्र नाम सार्थक है, साथ ही उसे वज्री भी कहा गया है। लौकिक संस्कृत-साहित्य में 'वज्र' एक प्रकार के अस्त्र के लिए प्रयुक्त होता है। पौराणिक देवता इन्द्र अपने हाथ में वज्र धारण करता है, किन्तु यौगिक दृष्टि से अर्थ करने पर इसका अभिप्राय अनन्त बल तथा पराक्रम से है। ऋषि दयानन्द ने 'वज्रिणः' का अर्थ इस प्रकार किया है—**वज्रो अनन्तं प्रशस्तं वीर्यमस्यास्तीति तस्य।** इसमें शतपथब्राह्मण का प्रमाण भी दिया है—**वीर्यं वै वज्रम्।**

इस प्रकार वज्री इन्द्र वह है जो अनन्त बल और पराक्रम से युक्त है। मन्त्र में उस परम दाता—दानशील परमात्मा की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे इन्द्र! इस संसार में अपने भक्तों को तुमने जो नाना प्रकार के पदार्थ दान किये हैं, प्राणियों के लाभार्थ प्रदान किये हैं, उनका सम्यक् रूप से वर्णन करना भी हमारे लिए कठिन है। यद्यपि हम विभिन्न प्रकार के स्तुतिसमूहों के द्वारा तुम्हारे द्वारा प्रदत्त दानों की प्रशंसा करना चाहते हैं, किन्तु यह हमारे लिए शक्य ही नहीं है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा—"ईश्वर ने इस संसार में प्राणियों के सुख के लिए जो नाना प्रकार की रचनाएँ की हैं, उनके जानने में अल्पबुद्धि मनुष्य का सामर्थ्य नहीं है।"

□□

[७]

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः।

अस्माकमस्तु केवलः॥ —ऋ० १/७/१०

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**

इस संसार में कौन सर्वश्रेष्ठ है? कौन ऐसा है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वामी होने से सर्वोपरि है? निश्चय ही वह सच्चिदानन्दादि लक्षणोंवाला परमात्मा ही है जिसे वेदों में 'इन्द्र' कहकर पुकारा गया है। इन्द्र को लेकर चारों वेदों में सहस्रों मन्त्र हैं और उनमें उस महान् ऐश्वर्यशाली, शक्ति के पुञ्ज, संसार के नियामक और शासक परमात्मा की स्तुति एवं प्रशंसा की गई है। वस्तुतः यह परमेश ही हम सामान्यजनों के द्वारा सहायता के लिए पुकारा जाता है। जीव जब अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ करने के पश्चात् भी स्वलक्ष्य की प्राप्ति में असफल होता है तब वह उसी परमैश्वर्यवान् इन्द्र का सहायता के लिए आह्वान करता है। अत्यन्त कातर स्वर में वह अपनी रक्षा और सहायता के लिए परमात्मा को पुकारता है। उसका यह कार्य सर्वथा उचित ही है, क्योंकि हमारी पूजा-उपासना का एकमात्र पात्र वही तो है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र के व्याख्यान में लिखा है—"हे मनुष्यो! तुमको अत्यन्त उचित है कि परमात्मा को छोड़कर और किसी को उपासना के योग्य मत मानो, क्योंकि उस इन्द्र से भिन्न कोई अन्य ईश्वर नहीं है। जब वेद में ऐसा उपदेश है तो जो मनुष्य अनेक ईश्वर या उसके अवतार मानता है, वह सबसे बड़ा मूढ़ है।" प्रस्तुत मन्त्र एकमेव ईश्वर को ही आराध्य एवं उपास्य कहता है।

□□

[८]

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्॥ –ऋ० १/११/२

देवता–**इन्द्रः** ; ऋषि–**जेता माधुच्छन्दसः**

मनुष्य किसे अपना प्रणाम निवेदन करे? यों तो सांसारिक मर्यादाओं की दृष्टि से वह माता, पिता, गुरु, आचार्य तथा आर्य-संस्कृति के उपदेशक ऋषि-मुनियों को अपना प्रणाम निवेदन करता ही है, किन्तु उसका परम कर्त्तव्य तो परमात्मा की स्तुति करना, उसका गुणानुवाद करना है। मन्त्र में परमेश्वर को अनन्त-बलयुक्त तथा सर्वशक्ति-सम्पन्न 'वाजिन्' कहकर पुकारा गया है। उसके दो अन्य विशेषण भी मन्त्र में आए हैं। वह 'जेता' है–शत्रुसमूहों पर विजय पानेवाला है। प्रश्न होता है कि क्या उसका कोई शत्रु भी है? जो सर्वमित्र है, उसके शत्रु की तो कल्पना करना ही कठिन है। निश्चय ही परमात्मा जीवमात्र का कल्याण करनेवाला, सर्वहितकारी मित्र है, किन्तु संसार में जो निरपराध प्राणियों को पीड़ा पहुँचानेवाले हिंसक शत्रु हैं, वे ही उसके शत्रु हैं, जिनपर वह विजय पाता है। वह स्वयं तो सर्वनियन्ता एवं सर्वशक्तिमान् होने के कारण सर्वथा और सर्वदा अपराजेय ही है। ऐसे दिव्य गुण-कर्म-बल-सम्पन्न परमात्मा को हम अपना सखा बनाएँ। हम चेतन आत्माओं का आदर्श सखा तो सच्चिदानन्दादि लक्षणोंवाला परमात्मा ही हो सकता है। हम उसे ही अपनी स्तुति-प्रार्थनोपासना प्रस्तुत करें, उसे अपने प्रणाम निवेदन करें। ऐसा करके ही हम संसार में निर्भीक होकर विचरण कर सकेंगे। ऋषि दयानन्द के अनुसार जो मनुष्य परमात्मा से मित्रभाव एवं प्रीति रखते हैं, वे किसी अन्य से पराजय तथा भय को प्राप्त नहीं होते।

□□

[९]

अ॒ग्निं दू॒तं वृ॑णीमहे॒ होता॑रं वि॒श्ववे॑दसम्।
अ॒स्य य॒ज्ञस्य॑ सु॒क्रतु॑म्॥ —ऋ० १/१२/१

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**काण्वो मेधातिथिः**

इस मन्त्र में अग्नि को दूत की संज्ञा दी गई है। दूत के कार्य संदेश को पहुँचाना, पदार्थों को एक स्थान से अन्यत्र ले-जाना आदि हैं। भौतिक यज्ञ में तो 'अग्नि' देवताओं का दूत प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि वही हुत पदार्थों को सूक्ष्म बनाकर जल, वायु, आकाश आदि तक पहुँचाने का कार्य करता है, किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में भी अग्नि नाम से पुकारा जानेवाला परमात्मा जीवों के कर्मों के अनुकूल फलों का पहुँचानेवाला होने के कारण 'दूत' संज्ञा से वर्णित किया गया है। वह भक्तों को भी नाना भाँति के ऐश्वर्य तथा सुख प्राप्त कराता है, अतः उसे दूत कहना उपयुक्त ही है। हम इसी अग्नि=परमात्मा को अपना दूत वरण करते हैं। वह होता है, अर्थात् सर्वत्र व्यापक होने से सबका ग्रहण करनेवाला है तथा सबको जाननेवाला (विश्ववेदसम्) भी है। हमारे जितने श्रेष्ठ कर्म हैं, शोभन यज्ञ हैं, उन्हें सुधारनेवाला, उनका परिष्कार करनेवाला भी वही परमात्मा है। मन्त्र में अग्नि को 'होता' कहकर उसकी सर्वव्यापकता को दर्शाया गया और उसे 'विश्ववेदसम्' कहकर अनन्त ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ तथा सब पदार्थों का द्रष्टा भी कहा गया। निश्चय ही मनुष्य परोपकार एवं लोकहित के जितने पवित्र यज्ञ रचाता है उन्हें सफल करनेवाला, उनमें सक्रियता भरनेवाला वह परमेश्वर है, अतः हम उसे ही अपना दूत स्वीकार करें। नाना उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाला होने के कारण उसका श्रेष्ठ दूतत्व तो सिद्ध ही है।

□□

[१०]

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम्॥ —ऋ० १/१२/७

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**काण्वो मेधातिथिः**

वेदमन्त्रों में अनेकत्र परमात्मा को ही एकमात्र स्तुतियोग्य ठहराया है। जगन्नियन्ता परमेश से भिन्न अन्य कौन हमारी भक्ति, स्तुति और उपासना का पात्र हो सकता है? मनुष्य को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करनेवाला, परम प्रकाशवान् अग्नि=परमात्मा की ही हम स्तुति करें, वन्दन करें तथा उसे ही नमस्कार करें। इसके कारणों को स्पष्ट करते हुए मन्त्र उस दिव्याग्नि ईश्वर के कतिपय गुणों, लक्षणों तथा विशेषणों का यहाँ बखान करता है। प्रथम तो वह कवि है—मननशील है, चिन्तनशील है, परम बुद्धिमान् होने से ही उसे 'कवि' संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद (४०/८) में भी 'कविर्मनीषी' जैसे शब्द परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। पुन: वह 'सत्यधर्मा' है। सत्य और धार्मिक चरम आदर्शों की अभिव्यक्ति ईश्वर में ही हुई है। जिस यज्ञ को अध्वर (अहिंसायुक्त) कर्म कहकर हम आचरण में लाते हैं, वह तो एक सामान्य प्रतीक है। समस्त संसार का पालन, नियमन तथा संचालन भी परमात्मा द्वारा किया जानेवाला एक महान् यज्ञ है, जिसका प्रमुख ऋत्विक्, सम्पादक एवं पुरोहित सत्यधर्मा वह स्वयं ही है। निश्चय ही वह अग्नि 'देव' भी है, दिव्य गुणोंवाला तो है ही, अपने भक्तों और उपासकों को भी दिव्य गुण-कर्म-पदार्थादि प्राप्त करानेवाला है, अत: हम उस सर्वज्ञ, प्रकाशस्वरूप परमात्मा का ही अपनी वाणियों से पुन:-पुन: स्तवन करें, यही हमारे लिए सर्वथा समीचीन है।

□□

[११]

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ —ऋ० १/१३/९

देवता—**सरस्वतीळाभारत्यः** ; ऋषि—**मेधातिथि काण्वः**

मनुष्य को कल्याण प्राप्त करानेवाली तीन देवियों का उल्लेख करनेवाले अनेक मन्त्र वेदों में आए हैं। ये तीन देवियाँ हैं—इडा, सरस्वती और मही। किन्हीं मन्त्रों में इडा और सरस्वती के साथ भारती को भी परिगणित किया गया है। मन्त्रगत 'इडा' वाणी या भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ है तो 'सरस्वती' विद्या के लिए आया है। विद्या के द्वारा ही मनुष्य संस्कारों को प्राप्त करता है, सुसंस्कृत होता है, अतः सरस्वती शब्द हमारी संस्कृति का वाचक भी है। 'मही' पृथिवी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निष्कर्षतः मातृभाषा, मातृसभ्यता (संस्कृति) तथा मातृभूमि—इन तीनों को ही वेद ने मानव का सर्वहित, बृहत्तर कल्याण करने में प्रवृत्त देवियाँ कहकर उपदिष्ट किया है। ऋषि दयानन्द इडा को वाणी का वाचक मानते हैं, जिससे किसी का स्तवन किया जाता है। ज्ञान का प्रकाश करनेवाली वृत्ति को वे सरस्वती नाम देते हैं तथा मही का अर्थ 'महती पूज्या नीति या भूमि' बताते हैं। इस प्रकार धरती के निवासी मानवों के लिए वेद का स्पष्ट उपदेश है कि वे अपनी मातृभाषा, मातृसंस्कृति तथा मातृभूमि के प्रति अत्यन्त प्रीति रक्खें। यही तीन देवियाँ हमारे अन्तःकरणरूपी आसन पर विराजें। वेद की भाषा—वैदिक संस्कृत ही मनुष्य की आदिम भाषा है। वेदवर्णित संस्कृति—जीवन-पद्धति ही विश्व-संस्कृति है जिसके लिए यजुर्वेद (७/१४) में **सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा** का प्रयोग हुआ है। वेद तो सम्पूर्ण धरती को ही मातृभूमि कहता है।

□□

[१२]

इन्द्रं प्रातर्हवामह इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं सोमस्य पीतये॥ —ऋ० १/१६/३

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**काण्वो मेधातिथिः**

वेद के प्रायः सभी मन्त्रों का इसी बात पर जोर है कि मनुष्य के लिए आराध्य एवं उपास्य तो एकमात्र ईश्वर ही है। यद्यपि वेदों में ही उस एक, अद्वितीय ब्रह्म के अनेक नाम प्रसंगानुसार आए हैं, किन्तु वे सभी उस एक का ही गुणानुवाद करते हैं, उस एक का ही कथन करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र भी इन्द्र को पुकारने की ही बात करता है। ऐश्वर्यप्रदाता होने के कारण परमपिता को इन्द्र कहा जाता है। प्रातःकाल की उपासना में हम उसे ही पुकारते हैं और उससे ही सहायता की याचना करते हैं। वेदादि शास्त्रों में अध्वर शब्द का प्रयोग यज्ञ के लिए हुआ है। लोकहित का सम्पादन करनेवाले सभी परोपकार के कृत्य 'यज्ञ' नाम से पुकारे जाते हैं। यज्ञ से ही हमें उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसी से उत्तम क्रियाओं की सिद्धि भी होती है। इसलिए समस्त यज्ञों में परमात्मा ही प्रथम स्तवनीय और वंदनीय है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर महर्षि दयानन्द सभी यज्ञों, नित्य-नैमित्तिक कर्मों तथा षोडश संस्कारों के आदि में **'विश्वानिदेव'** आदि स्तुति-प्रार्थनोपासना के आठ मन्त्रों का सार्थ-पाठ करते हुए मन्त्रगत अर्थों का चिन्तन करने का विधान करते हैं। निश्चय ही जिस इन्द्र की हम प्रातः स्तुति करते हैं, जिसे यज्ञों में स्मरण करते हैं, वह हमें सोमरूपा भक्ति के आनन्दरस का पान कराने में समर्थ है। इस अपूर्व अलौकिक, दिव्य सोम का पान करने के लिए इन्द्र की भक्ति करना हमारा अनिवार्य कर्त्तव्य है।

□□

[१३]

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषम्॥ —ऋ० १/१८/६

देवता—**सदसस्पतिः** ; ऋषि—**काण्वो मेधातिथिः**

मनुष्य दैवी बुद्धि प्राप्त करे, यही वेद का सुष्ठु उपदेश है। इस श्रेष्ठ दैवी बुद्धि को यहाँ 'मेधा' कहा गया है। ऋषि दयानन्द इसका अर्थ धारणावती बुद्धि करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र कहता है कि हम सदसस्पति इन्द्र की सत्यासत्य तथा पाप-पुण्य में विवेक करनेवाली बुद्धि को प्राप्त करें। परमात्मा को भी मन्त्र में 'सदसस्पति' या सभापति कहा गया है। जैसे इन्द्र=परमात्मा सर्वथा सत्य, ज्ञान और न्याय का आश्रय लेकर संसाररूपी सभा का संचालन करता है, उसी प्रकार का आचरण लौकिक सभापति, सभाध्यक्ष आदि को भी करना चाहिए। ऐसा इन्द्र=परमात्मा अद्भुत है—आश्चर्यान्वित गुण-कर्म-स्वभाववाला है। वह सारे जीवों का प्रिय है, उनका हितैषी मित्र है। वही काम्य है, उसी की कामना की जानी योग्य है, अतः हम उस सभापति इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि सत्यासत्य, धर्माधर्म तथा पाप-पुण्य में विवेक करनेवाली मेधा को हम प्राप्त करें। ऋषि दयानन्द ने मन्त्रगत भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "जो मनुष्य सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठाता, सर्वानन्दप्रद, परमेश्वर की उपासना करते हैं वे सर्वशास्त्रों का बोध करानेवाली क्रियायुक्त मेधाबुद्धि को प्राप्त कर पुरुषार्थी एवं विद्वान् बनते हैं तथा सर्वथा सुखी रहते हैं।" निश्चय ही वेद मनुष्य के लिए विवेक को जगानेवाली मेधा (प्रज्ञा, धी, बुद्धि) की उपासना को ही सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य बताता है। इसके लिए हम परमात्मा की उपासना करें, क्योंकि वही हमें मेधावी बना सकता है।

□□

[१४]

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥ —ऋ० १/१८/७

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**काण्वो मेधातिथिः**

मनुष्य यज्ञादि शुभ कर्मों में बार-बार प्रवृत्त तो होता है, किन्तु सभी परोपकार-कृत्यों में उसकी सफलता क्या निश्चित ही होती है? कदाचित् नहीं। प्रायः हम देखते हैं कि उत्तम लक्ष्य को लेकर किये जानेवाले हमारे शुभकर्म भी असफल रहते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि ऐसे कार्य हम सदा आस्तिक बुद्धि से नहीं करते। यदि परमात्मा में हमारी भक्ति और प्रीति हो, हम उस अनन्त बुद्धिशाली परमात्मा को साक्षी बनाकर उसकी आज्ञा का अनुसरण करते हुए ही यज्ञकर्म, परोपकार के कृत्य करें तो उसमें हमारी सफलता सुनिश्चित है। इसमें एक सूक्ष्म कारण यह है कि मनुष्यों के सभी कार्य उसकी बुद्धि के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। अब यह मनुष्य पर ही निर्भर करता है कि वह अपनी बुद्धि को योगयुक्त कर (स्थितप्रज्ञता धारण करते हुए, उत्तम लक्ष्यगामी बनाते हुए) उसके द्वारा उन सत्कर्मों का अनुष्ठान करे, जिन्हें वैदिक शास्त्रों में 'यज्ञ' नाम से अभिहित किया गया है। वस्तुतः हमारी इन बुद्धियों को योगयुक्त करने का कार्य तो परमात्मा ही करता है। प्रसिद्ध गायत्रीमन्त्र में भी सवितादेव के उस तेज का ध्यान करने के लिए कहा गया है, जो हमारी बुद्धियों को सत्-मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है। ऋषि दयानन्द के अनुसार "उस अनन्त विद्यावाले जगदीश्वर के विना यज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वही तो हमारी बुद्धि और कर्मों को योगयुक्त बनाता है।"

□□

[१५]

नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः।
मरुद्भिरग्न आ गहि॥ —ऋ० १/१९/२

देवता—**अग्निमरुतः** ; ऋषि—**मेधातिथिः काण्वः**

संसार में परमात्मा से बढ़कर भला अन्य कौन है? यों तो इस सृष्टि में अनेक उत्कृष्ट दिव्य गुणोंवाले देवता हैं तथा सामान्य, साधारण कर्म करनेवाले मनुष्य हैं, किन्तु वे सभी परमात्मा से अवर हैं, कनिष्ठ हैं। इसी अभिप्राय को आगे चलकर श्वेताश्वतर उपनिषद् के रचयिता ऋषि ने इस प्रकार व्यक्त किया—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥
(६/७)

वह परमेश्वर ईश्वरों (शक्तिशाली, समर्थ मनुष्यों) का भी ईश्वर है तथा उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ देवताओं का भी परम देवता है। प्रस्तुत मन्त्र में उसी महान् अग्निदेव की स्तुति करते हुए द्रष्टा ऋषि कहता है—हे ज्ञान-विज्ञानस्वरूप परमात्मा! आपसे महान् न कोई देव है और न मनुष्य। आपके उत्कृष्ट क्रतुओं (कर्मों) को जानने का सामर्थ्य भी किसी में नहीं है। ऐसे हे कृपालु देव! आप मरुत्रूपी प्राणों के साथ हमें प्राप्त हों। जहाँ हम परमात्मा को जानें, उसके दिव्य गुण-कर्मों का ज्ञान प्राप्त करें, वहाँ प्राणरूपी मरुतों के क्रियाकलाप की भी हमें जानकारी होनी चाहिए। प्राणों के संयम से, प्राणायाम-परायण होने से ही साधक उस दिव्याग्नि का साक्षात्कार करते हैं, जो देवजनों तथा सामान्य मनुष्यों से श्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट है।

□□

[१६]

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः॥

—ऋ० १/२४/११

देवता—**वरुणः** ; ऋषि—**आजीगर्ति शुनःशेपः**

मन्त्र में परमात्मा को 'उरुशंस वरुण' कहकर सम्बोधित किया गया है। बहुत प्रकार से अथवा सर्वथा प्रशंसा के योग्य वरणीय परमेश्वर ही उरुशंस वरुण हैं। भक्त का निवेदन है कि हे मेरे आराध्य! मैं परोपकार तथा जनहित के लिए किये जानेवाले यज्ञों का यजमान, वेदों में वर्णित विधियों से आपकी वंदना करता हूँ। परमात्मा का स्तवन, वंदन, यज्ञादि जिन विधियों से किया जाता है वे सब वेदमूलक हैं। उपासक यजमान का एक गुण उनका क्रोधहीन होना भी है। जहाँ क्रोध जैसा दुर्गुण है, वहाँ उपासना असम्भव है। भक्त स्वयं को किसी का निरादर न करनेवाला 'अहेळमानः' कहता है। परमात्मा की उपासना के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, वेदों में उन्हें 'हवि' कहा गया है। हम अपनी भक्ति, श्रद्धा एवं विश्वास उसके प्रति प्रकट करते हैं तो यही वे हवियाँ हैं जिनके द्वारा प्रभु की उपासना की जाती है। आगे भक्त का निवेदन तीन प्रकार का है। प्रथम तो वह अपने जीवन-व्रत का पालन करने में परमात्मा की सहायता चाहता है। वह यह भी चाहता है कि ईश्वर उसकी प्रार्थना को सुनें तथा उसकी कामनाओं से अवगत हों। साथ ही वह यह भी चाहता है कि उसकी आयु का अल्पकाल में क्षरण न हो। दीर्घायु प्राप्त करना यूँ तो मनुष्य के पुरुषार्थ से ही सम्भव है, तथापि इसमें प्रभु का आशीर्वाद भी एक मुख्य कारण है। हमारे जीवन की डोर बीच में ही न टूटे, यही वरुण परमात्मा के प्रति भक्त की प्रार्थना है। □□

[१७]

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्।
मिनीमसि द्यविद्यवि॥ —ऋ० १/२५/१

देवता—**वरुणः** ; ऋषि—**आजीगर्ति शुनःशेपः**

संसार में हम देखते हैं कि नियम, व्यवस्था तथा अनुशासन का पालन करनेवाले लोग तो अत्यल्प ही हैं। अधिकांश वे लोग हैं, जिन्हें राज्य द्वारा लागू किये जानेवाले नियमों को तोड़ने तथा विपरीत चलने में ही सुख अनुभव होता है। हम लोग केवल राजकीय अनुशासन को ही नहीं तोड़ते, परमात्मा द्वारा सृष्टि के हितार्थ लागू किये गए ऋत और सत्य-जैसे सार्वभौम नियमों को भी प्रायः भंग कर देते हैं। हमारा यह गुरुतर अपराध है। मन्त्र में उपासक वरणीय वरुण देव से निवेदन करता है कि जिस प्रकार किसी राजा की प्रजा अनजाने अथवा जान-बूझकर राजकीय नियमों को तोड़ती है, हम भी तो आप नियामक परमात्मा द्वारा जारी किये गए सत्य व्रतों का नित्यप्रति उल्लंघन करते ही रहते हैं। निश्चय ही यह एक अक्षम्य अपराध है, किन्तु करुणावरुणालय भगवान् की कृपाओं की भी कोई कमी नहीं है। वह हमारे द्वारा किये जानेवाले इन अपराधों की प्रायः अवगणना कर अपनी करुणा का परिचय देता रहता है। ऋषि दयानन्द मन्त्रगत भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "जिस प्रकार अज्ञान के वशीभूत होकर किसी राजा की प्रजा अथवा मनुष्य की सन्तान दिन-प्रतिदिन अपराध करती है, उसी प्रकार हम लोग भी अन्याय, अधर्म और पाप के कृत्य प्रायः करते ही रहते हैं, किन्तु आपका तो व्रत ही क्षुद्रमनस्क जीवों के प्रति करुणा करने का है। हम आपके उसी व्रत का आदर करते हैं और अपेक्षा रखते हैं कि आपका न्याय, दया तथा व्रतपालन का आदर्श हमें भी प्राप्त होता रहेगा।"

□□

[१८]

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये।
वयो न वसतीरुप॥　　　—ऋ० १/२५/४

देवताः—**वरुणः;** ऋषिः—**आजीगर्ति शुनःशेपः**

ऐश्वर्ययुक्त जीवन जीने की लालसा मनुष्य में स्वाभाविक होती है। यदि वह सामान्य कोटि का है तब तो उसे लौकिक धन, सम्पत्ति और वैभव की कामना ही रहती है, किन्तु यदि मनुष्य उत्कृष्ट गुणोंवाला है तब वह नैतिक और चारित्रिक गुणों का विकास कर आध्यात्मिक पथ पर चलने में ही अपना श्रेय मानता है। वरुण के इस उपासक भक्त ने भी ऐसे ही प्रशस्त ऐश्वर्ययुक्त जीवन को जीने का संकल्प ले लिया है। फलतः क्रोधादि षड्विकारों से मुक्त उसकी मानसिक वृत्तियाँ आध्यात्मिक गुणों का संचय करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं, दूर-दूर तक दौड़ती हैं। अपने लक्ष्य की ओर जाने की यह प्रक्रिया वैसी ही है जैसे सायंकाल के समय पक्षी अपने घोंसलों में जाने के लिए दौड़ पड़ते हैं। जैसाकि हम जानते हैं, वेद काव्य है, किन्तु वह परमेश्वर-प्रदत्त होने के कारण अलौकिक कोटि का काव्य है। तथापि परवर्ती काल में जब लौकिक काव्य रचे गए तो उनमें भी वेदों में दर्शाई गई उक्ति-निपुणता, उपमादि अलंकारों के प्रयोग की रीतियों को अपनाया गया। प्रस्तुत मन्त्र में उपमालंकार की छटा दर्शनीय है। जिस प्रकार सायं होते ही पक्षिगण अपनी दैनन्दिन क्रियाओं को समाप्त कर अपने वासस्थान की ओर दौड़ पड़ते हैं, उसी प्रकार उपासक की मनोवृत्तियाँ भी काम, क्रोध, द्वेष, लोभ, मोह, मद आदि दोषों से स्वयं को मुक्त कर अपने इष्ट को प्राप्त करने के लिए दौड़ पड़ती हैं। आध्यात्मिक ऐश्वर्ययुक्त जीवन ही उसका लक्ष्य है और उसे यही प्राप्त करना है।

□□

[१९]

कुदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे।

मृळीकायोरुचक्षसम्॥ —ऋ० १/२५/५

देवता—**वरुणः** ; ऋषि—**आजीगर्ति शुनःशेपः**

भगवान् के साधक और भक्त की आशाएँ प्रबल हैं। वह एक महान् लक्ष्य की ओर चल पड़ा है। उसके मन में आशंकाएँ भी उठती हैं और वह सोचता है कि क्या वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होगा? उसने जिसे अपना लक्ष्य बनाया है, क्या वह निरन्तर उस ओर बढ़ रहा है? उसकी मनोवृत्तियाँ बार-बार उसे सावधान करती हैं, तब वह स्वयं से ही पूछता है—वह अत्यन्त सुखद घड़ी कब आएगी, वह आह्लादपूर्ण क्षण कौन-सा होगा जब मैं उपासक उस महान् दर्शनशक्तिवाले (उरुचक्षस्) वरुण का साक्षात्कार करूँगा? ऋषि दयानन्द ने उरुचक्षस् का अर्थ किया है—**'बहुविधं वेदद्वारा चक्षं आख्यानं यस्य तम्'**—वेदों के द्वारा जिसका बहुविध वर्णन किया गया है, वह ईश्वर ही 'उरुचक्षस्'-पद-वाच्य है। वह वरुण महान् शक्तिशाली है तथा भक्तों के बलों को भी बढ़ानेवाला है। ऋषि दयानन्द ने 'क्षत्रश्रियं' का अर्थ 'चक्रवर्ती राजलक्ष्मी' किया है। समस्त सांसारिक ऐश्वर्यों और बलों का प्रदाता भी वरुणदेव ही है। हम सुख-प्राप्ति के लिए उसे कब प्रत्यक्ष कर पाएँगे—यही भक्त की चिन्ता है और वह स्वयं से ही पूछता है कि वह शुभ घड़ी कब आनेवाली है, मेरी तपस्या का अभीष्ट फल मुझे कब मिलेगा, जब मैं आत्मोन्नतिरूपी सुख की प्राप्ति के लिए बहुत प्रकार से स्तुत एवं प्रशंसित वरुण भगवान् का दर्शन कर सकूँगा? काश! वह घड़ी शीघ्र आए।

□□

[२०]

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥ —ऋ० १/२५/७

देवता—**वरुणः** ; ऋषि—**आजीगर्ति शुनःशेपः**

वरणीय प्रभु वरुण के ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। मनुष्य का ज्ञान स्वोपार्जित होता है। उसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य को पुरुषार्थ करना पड़ता है, किसी गुरु के निकट जाकर क्रमपूर्वक ज्ञानार्जन करना होता है। किन्तु परमात्मा का ज्ञान स्वाभाविक है, सहज है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/८) के ऋषि के शब्दों में **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'**—परमात्मा का ज्ञान, बल तथा कार्य सर्वथा सहज स्वाभाविक है। संसार में ऐसी कोई बात नहीं जो उसे ज्ञात न हो। उसकी सर्वज्ञ दृष्टि में संसार के सभी कार्य, वस्तुएँ एवं पदार्थ समाहित हैं। आकाश का तो कोई अन्त ही नहीं है, इसलिए हम उसे अनन्त की संज्ञा देते हैं। इसी अनन्ताकाश में जब पक्षी उड़ते हैं तो क्या हम उनकी गति तथा स्थिति को जानते हैं? हमारे लिए चाहे यह सम्भव न हो, किन्तु परमात्मा के लिए आकाशगामी पक्षियों की गति अविदित नहीं है। जैसे आकाश का अन्त हमारे लिए अगोचर है, उसी प्रकार जल का अनन्त विस्तार लिये सागर के दूसरे छोर को देखना भी क्या मनुष्य के लिए सम्भव है? निश्चय ही समुद्र तो ससीम है, किन्तु मनुष्य का दृष्टि-विस्तार भी तो ससीम है, इसलिए समुद्र के वक्ष पर चलनेवाली नौकाओं की गतिविधियों पर भी वह समग्रतया दृष्टि नहीं रख सकता। किन्तु यह तो सर्वद्रष्टा वरुण का ही माहात्म्य है जो वह आकाशगामी पक्षियों की गति को जानता है तथा समुद्रतल पर तीव्र गति से दौड़नेवाली नौकाओं की गति एवं स्थिति को भी जानता है। उस वरुण को हमारा नमस्कार!

□□

[२१]

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्या३स्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ —ऋ० १/२५/१०

देवता—**वरुणः** ; ऋषि—**आजीगर्ति शुनःशेपः**

वरणीय प्रभु वरुणदेव को इस मन्त्र में 'सुक्रतु' कहा गया है। क्रतु कर्म तथा बुद्धि का वाचक है। ऋषि दयानन्द स्वरचित ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र में आए सुक्रतुः का अर्थ 'शोभनाः क्रतवः कर्माणि प्रज्ञा वा यस्य सः' करते हैं जिसका अर्थ है शोभन कर्मों तथा प्रज्ञावाला। परमात्मा के कर्म स्वभावज हैं तथा सुशोभन भी हैं। उसकी बुद्धि भी श्रेष्ठता और प्रकर्षता की सर्वोत्तम कसौटी है। उस सुक्रतुं परमात्मा के श्रेष्ठ कर्मों एवं प्रज्ञाओं को जानकर हम भी वैसे ही सुकर्मा बनें। वरुण को 'धृतव्रत' भी कहा है। वह सब नियमों तथा अनुशासनों का स्वयं पालनकर्त्ता एवं अन्यों से पालन करानेवाला है। इन्हीं गुणों से युक्त वह वरुण अपनी प्रजाओं का सम्राटवत् स्वामी है। निश्चय ही संसार का अकेला स्वामी तो परमात्मदेव ही है, जिसके बारे में वेद में अन्यत्र कहा गया है—**'यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव'**—अपनी अनन्त महिमा से जो प्राणिजगत् तथा जड़ संसार का स्वयंभू राजा है। संसार में बड़े-बड़े साम्राज्यों के सम्राटों का वृत्तान्त हम इतिहास में पढ़ते हैं, किन्तु इन सभी की सत्ता सदा एकदेशीय ही रही। परमात्मा यदि विश्वब्रह्माण्ड का एकमेव सम्राट् बनकर विराजमान है तो यह उसके अपूर्व बल, वीर्य और पराक्रम के कारण ही है। ऋषि दयानन्द ने मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार माना है। वे कहते हैं कि "जिस प्रकार परमात्मा सम्पूर्ण प्रजा का सम्राट् है, उसी प्रकार विद्वान् धार्मिक जन भी सम्राट् बनने की कामना कर सकते हैं।"

□□

[२२]

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम्॥

—ऋ० १/३२/१

देवता—**वरुणः** ; ऋषि—**आंगिरसो हिरण्यस्तूपः**

वेदों में इन्द्र शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। सर्वसामर्थ्ययुक्त होने से परमात्मा इन्द्र है तो इन्द्रियों का स्वामी होने के कारण आत्मा (जीव) को भी इन्द्र नाम से सम्बोधित किया गया है। नाना ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण राजा को भी 'इन्द्र' कहकर पुकारा गया है तो मेघों का विदारक होने के कारण सूर्य के लिए भी इन्द्र पद का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र के आध्यात्मिक तथा भौतिक (परमात्मापरक तथा सूर्यपरक) द्विविध अर्थ किये जा सकते हैं। उपासक कहता है कि मैं आपके समक्ष उस महान् इन्द्र परमेश्वर की शक्ति और बल का वर्णन करने में प्रवृत्त होता हूँ। वह इन्द्र दुष्ट प्रकृतिवालों पर वज्ररूपी दण्ड का प्रहार करने के कारण 'वज्री' नाम से अभिहित किया जाता है। जल की वर्षा कर जीव-सृष्टि को पानी पहुँचाना भी इन्द्र का ही प्रशंसनीय कर्म है। वह मेघों को छिन्न-भिन्न करके जलों को धरती पर बरसाता है। उस समय अपार जलराशि धरती पर गिरती है। जब घनघोर वृष्टि होती है तो नदियों का जल भी तीव्र प्रवाहयुक्त होकर, अपने कूल-किनारों को छोड़कर बहने लगता है और सारी धरती जल से आप्लावित हो जाती है। वर्षा-कर्म को सम्पन्न करने में इन्द्ररूपी सूर्य की भूमिका तो रहती ही है, किन्तु अन्ततोगत्वा यह सारा खेल परमात्मा का ही है जो जीवों के हित के लिए मेघों से जलों की वर्षा करता है।

□□

[२३]

ह्वयाम्य॒ग्निं प्र॑थ॒मं स्व॒स्तये॒ ह्वया॑मि मि॒त्रावरु॑णावि॒हाव॑से।
ह्वया॑मि॒ रात्री॒ं जग॑तो नि॒वेश॑नी॒ं ह्वया॑मि दे॒वं स॑वि॒तार॑मू॒तये॑॥

—ऋ० १/३५/१

देवता (पादक्रम से)—**अग्निः, मित्रावरुणौ, रात्रिः, सविता;** ऋषि—**आंगिरसो हिरण्यस्तूपः**

प्रस्तुत मन्त्र में उपासक नाना देवताओं का आह्वान करता है, स्वकल्याण के लिए उन्हें पुकारता है। इस तथ्य से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि वेदों में नाना देवताओं का वर्णन है। इसके साथ ही यह भी समझना चाहिए कि उपास्य और वंदनीय देव तो एकमेव परमात्मा ही है और वेदमन्त्रों में अनेकत्र उसका ही इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, वायु, आदित्य, पूषा आदि नामों से उल्लेख हुआ है, किन्तु इन शब्दों के परमात्मा से भिन्न अर्थ भी वेद को अभिप्रेत हैं। इस मन्त्र का सामान्य अर्थ है—मैं अपने हित और कल्याण के लिए सर्वप्रथम अग्नि नामवाले ईश्वर को पुकारता हूँ। वह मेरा रक्षक है तथा स्वस्तिदायक है। मैं अपनी रक्षा के लिए उस ईश्वर का आवाहन करता हूँ जो मित्र तथा वरुण नाम से पुकारा जाता है। समस्त प्राणियों का निश्चित मित्र तथा श्रेष्ठ एवं वरणीय होने के कारण वह परमपिता ही मित्र तथा वरुण नाम से सम्बोधित होता है। दिनभर के क्रियाकलाप तथा संघर्षमय जीवन से थका मनुष्य विश्राम के लिए रात्रि के समय निद्रा की गोद में जाता है। यह रात्रि ही सारे संसार को विश्रान्ति की गोद में ले-जाती है। अन्ततः मनुष्य अपनी रक्षा और क्रियासिद्धि के लिए सूर्यादि प्रकाशमान् पदार्थों को उत्पन्न करनेवाले सवितादेव को पुकारता है और उसकी शरण में जाता है। मन्त्रगत अग्नि, मित्र, वरुण, रात्रि और सविता शब्द परमेश्वरवाचक ही हैं। इन नामों से हम उसी का स्तवन करते हैं।

□□

[२४]

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥

—ऋ० १/३६/१५

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**घौरः काण्वः**

संसार में मनुष्य-जाति का अनिष्ट करनेवाले लोगों की कमी नहीं है। यद्यपि इस सृष्टि में भले, परोपकार वृत्तिवाले तथा सज्जन प्रकृति के लोग भी हैं, किन्तु ऐसे लोग भी हैं जो राक्षस वृत्तिवाले, धूर्त, कृपण, दूसरों को पीड़ा देनेवाले तथा निर्दोषों का हनन करनेवाले असुर कोटि के हैं। इस स्थिति में भद्र, आस्तिकजन के लिए प्रकृष्ट गुणोंवाले अग्नि=परमात्मा से निम्न प्रार्थना करना ही सर्वथा उचित प्रतीत होता है, जिसमें वह निवेदन करता है कि हे परमदेव! आप हमें निष्ठुर वृत्तिवाले राक्षसों से बचाओ। हमें विश्वासघाती धूर्तों से बचाओ तथा अदानशील कृपण वृत्तिवाले लोगों को भी हमसे दूर रक्खो। हिंसक वृत्तिवाले, अन्यों को पीड़ा देने में तत्पर दुष्टों को हमसे दूर रक्खो। प्रस्तुत मन्त्र में परमात्मा को 'अग्नि' कहकर सम्बोधित किया है तथा 'बृहद्भानु' एवं 'यविष्ठ्य' उसके दो विशेषण बताए हैं जो क्रमशः अत्यन्त तेजस्वी तथा महाबली होने का अर्थ देते हैं। अग्नि का 'सभाध्यक्ष राजा' अर्थ करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"मनुष्यों को उचित है कि वह सत्पुरुषों की रक्षा के लिए धर्मोन्नति में सहायक एवं दयालु राजा से प्रार्थना करे ताकि दुष्ट प्रकृति के राक्षसों, धूर्तों, कृपणों तथा हिंसाकर्म में प्रवृत्त क्रूर एवं अत्याचारी लोगों से प्रजा का त्राण किया जा सके।" अन्ततः इन दुष्टों का सर्वोपरि नियामक तथा दण्डदाता तो तेजस्वी परमात्मा ही है, जिसे यहाँ अग्नि नाम से अभिहित किया गया है। हमारी पुकार उसी के लिए है।

□□

[२५]

उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

—ऋ० १/५०/१०

देवता:—**सूर्य:**; ऋषि:—**प्रस्कण्व: काण्व:**

ऋषि दयानन्द ने स्वसम्पादित संध्योपासन-विधि में इस मन्त्र को उपस्थान-प्रकरण में पहला स्थान दिया है। उन्होंने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार लिखा है—"हे परमात्मन्! आप चराचर के आत्मा होने के कारण सूर्य-पदवाच्य हैं। हम सर्वत्र आपका दर्शन करते हैं और आपको जानते हैं। उत्कृष्ट श्रद्धावान् होकर हम आपको प्राप्त करें, यही हमारी एकान्त कामना है। आपका स्वरूप कैसा है? प्रथम तो आप ज्योतिस्वरूप हैं, स्वयं प्रकाशक हैं, सर्वोत्कृष्ट (उत्तम) हैं। दिव्य गुण-पदार्थोंवाले देवों के बीच आप अनन्त दिव्य गुणोंवाले होने के कारण धर्मात्मा, मुमुक्षु एवं मुक्त पुरुषों के लिए सर्वानन्द-प्रदाता तथा आमोद-कर्त्ता हैं। संसार में प्रलयोपरान्त आप अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप के साथ सदा विद्यमान रहते हैं। ऐसे स्व:=सर्वानन्दरूप प्रभो! हम अज्ञानरूपी अंधकार से परे होकर आपको प्राप्त करें।" स्वरचित ऋग्वेदभाष्य में ऋषि दयानन्द ने इसके भौतिक सूर्यपरक अर्थ भी किये हैं, किन्तु भावार्थ लिखते समय वे मन्त्रगत आध्यात्मिक भाव को ही प्रधानता देते हैं। यहाँ उनका कथन है कि मनुष्यों को यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि परमेश्वर के तुल्य अन्य कोई उत्तम प्रकाशक पदार्थ नहीं है, अत: उसे प्राप्त किये बिना कोई भी मनुष्य मुक्तिसुख का अधिकारी नहीं हो सकता। प्रात:कालीन संध्या के समय जब उपासक अपने समक्ष उदयकालीन सूर्य की लालिमा को देखता है तो इसको उत्पन्न करनेवाले प्रकाशमान परमात्मा का उसे सहज स्मरण हो जाता है। □□

[२६]

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम्॥

—ऋ० १/५०/१३

देवता—**सूर्यः** ; ऋषि—**प्रस्कण्वः काण्वः**

परमात्मा का एक नाम आदित्य भी है। लौकिक संस्कृत में आदित्य सूर्य का वाचक है, किन्तु वेद में उसे परमात्मा के लिए प्रयुक्त किया गया है। नाशरहित होने से ही उसकी आदित्य संज्ञा है। प्रातःकाल के समय पूर्व दिशा में उदय होते सूर्य को जब हम देखते हैं तो हमारे मन में कैसे-कैसे भाव और विचार उत्पन्न होते हैं। हमारी धारणा बनती है कि देखो, प्राची दिशा में यह सूर्य अपने सम्पूर्ण बल और तेज को लेकर उदय हुआ है। इसकी प्रकाशमयी किरणें धरती पर छाए अंधकार को नष्ट कर देंगी। रात्रि के अन्धेरे का लाभ लेकर जो चोर, उचक्के तथा व्यभिचारी लोग अपनी दुर्वासनाओं की पूर्ति में लगे थे, वे भी उदय होते हुए सूर्य को देखकर अपने दुष्ट कर्मों से विरत होंगे। निश्चय ही यह प्रकाशपुञ्ज सूर्य अंधकार और पापरूपी दुष्टों के दलन में सदा प्रवृत्त रहता है। इसे उदाहरण मानकर मनुष्यों को भी चाहिए कि वे भी अपने ज्ञानरूपी प्रकाश को प्रकाशित करें, अज्ञानान्धकार को दूर करें तथा सूर्यवत् अपने मानसिक तथा भौतिक शत्रुओं के उन्मूलन में प्रवृत्त हो जाएँ। ऋषि दयानन्द ने आलोच्य मन्त्र का भावार्थ करते समय यह स्पष्ट किया है कि "मनुष्यों के लिए यह अपेक्षित है कि वे अनन्त बलयुक्त जगदीश्वर को जानें तथा सज्जन पुरुषों के साथ मित्रभाव से वर्तें।" किन्तु अर्थापत्ति से वे यह भी कहना चाहते हैं कि दुष्टों के दलन से भी हमें कभी विरत नहीं होना चाहिए।

□□

[२७]

सोमं रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्यं इव स्व ओक्ये॥ —ऋ० १/९१/१३

देवता—**सोमः** ; ऋषि—**राहूगणपुत्रो गोतमः**

मन्त्रगत सोम शब्द परमेश्वर का वाचक है। स्वयं आनन्दरूप और भक्तजनों को आनन्दित करनेवाला परमात्मा ही सोम-पद-वाच्य है। भक्त की कामना है कि हे सोम परमात्मन्! आप हमारे हृदय में ही रहें। यों तो परमात्मा सर्वत्र विद्यमान होने के कारण मनुष्य के अन्तःकरण में भी विराज रहा है, किन्तु उपासकगण उसे अपने हृदय में ही देखते हैं, अनुभव करते हैं। गीता के प्रवक्ता भगवान् कृष्ण ने भी इसी तथ्य को निम्न श्लोक में रेखांकित किया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

अर्थात् ईश्वर सर्वप्राणियों के हृदयदेश में विराजमान है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि का परमात्मा से निवेदन है कि हे परमात्मन्! आप हमारे हृदय में रमण करें, वहीं विराजें। वेद वस्तुतः काव्य हैं, और काव्य में जिस प्रकार उपमालंकार का प्रभूत उपयोग होता है, उसी प्रकार परमात्मा के भक्तों के हृदय-मंदिर में निवास करने के लिए मन्त्र में दो लौकिक उपमाएँ दी गई हैं। प्रथम तो जिस प्रकार गाय अपने भक्षणीय पदार्थ घास आदि में रमती है। घास खाते समय पशु की तल्लीनता को विशेषतया देखा जा सकता है। दूसरी उपमा है घर में रहनेवाले मनुष्य की। वस्तुतः मनुष्य के लिए अपने घर से बढ़कर कोई अन्य रमणीय, सुखद एवं आनन्दप्रद स्थल नहीं है, अतः भक्त का यह निवेदन उचित ही है कि प्रभु भी उसके हृदय-मंदिर में उसी प्रकार रहें जैसे मनुष्य स्वगृह में रहता है।

□□

[२८]

विश्वा॑नि दे॒वी भुव॑नाभि॒चक्ष्या॑ प्रती॒ची चक्षु॑रुर्वि॒या वि भा॑ति।
विश्वं॑ जी॒वं च॒रसे॑ बो॒धय॑न्ती॒ विश्व॑स्य॒ वाच॑मविदन्मना॒योः॥

—ऋ० १/९२/९

देवता—**उषाः** ; ऋषि—**राहूगणपुत्रो गोतमः**

वेदों में उषा को लेकर अनेक रम्य तथा प्रिय उक्तियाँ कही गई हैं। उषाकाल लोगों को जगाने तथा प्रबोधित करने का समय होता है। रात्रि के आलस्य को त्यागकर समस्त जीव-जगत् अपने-अपने कामों में इसी समय लगता है। ऋषि दयानन्द वाचकलुप्तोपमा अलंकार का सहारा लेकर उषाविषयक मन्त्रों को नारी के कर्त्तव्यों पर घटाते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में उषा को देवी=सबको प्रकाशित करनेवाली कहा है जो लोक-लोकान्तरों को सब ओर से प्रकाशित करती है। उषादेवी की यात्रा पूर्व से आरम्भ होकर पश्चिम की ओर अग्रसर होती है और वह पृथिवीस्थ पदार्थों को स्वयं भी देखती है तथा अन्यों को भी दिखाती है। इस उषा के आगमन के साथ ही सम्पूर्ण जीवसमूह अपने-अपने कर्त्तव्य के पालन में प्रवृत्त हो जाता है, मानो देवी उषा ने ही सबको प्रबोधित किया है। यही उषा लोगों की वाणी को भी प्रेरित करती है। उषा की ही भाँति स्वकर्त्तव्यों का बोध रखनेवाली सुसंस्कृत नारी भी अपने घर-परिवार तथा समाज को भली-भाँति देखती है तथा परिजनों को आदेश-निर्देश देती हुई उन्हें अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों में प्रेरित करती है। वह समाज को बोध प्रदान करती है तथा अपने परिजनों एवं आश्रितजनों को वाणी-व्यवहार की समुचित शिक्षा देती है। इसी प्रकार उषा देवता के अन्य मन्त्रों के व्यावहारिक अर्थ भी चिन्तनीय हैं।

□□

[२९]

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

—ऋ० १/९४/१

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**कुत्स आंगिरसः**

अग्नि नाम से सम्बोधित परमात्मा के लिए उपासक का निवेदन है कि हे दिव्य गुण, कर्म, स्वभाववाले परमात्मन्! आपका एक नाम 'जातवेदा' भी है, क्योंकि आप सब वस्तु=पदार्थों को जानते हैं तथा उन्हें उत्पन्न भी करते हैं। हम इस मन्त्र (स्तोम) का उच्चारण कर जो आपका स्तवन करते हैं वह ऐसा ही है जैसे कोई शिल्पकार अपनी उत्तम मनीषा द्वारा किसी सुन्दर रथ का निर्माण करता है। पुनः उपासक की प्रार्थना है कि जब हम किसी सभा या संसद् में जाएँ तो उस समय हमारी बुद्धि सर्वदा और सर्वथा भद्र एवं कल्याणकारी कर्मों का ही चिन्तन करे। वेदों में सर्वत्र भद्र=सुविचारयुक्त बुद्धि की ही कामना की गई है। विचारशील होना मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव है और इसके लिए जिस कल्याणकारी बुद्धि की आवश्यकता होती है उसे प्राप्त करना ही मानव का ध्येय है, प्रधान कर्त्तव्य है। क्या तो घर-परिवार में और क्या सभा-संसद् में, हमारी बुद्धि भद्र बनी रहे, यही हमारी प्रार्थना और कामना है। भक्त और उपासक का दृढ़ निश्चय है कि अग्निरूपी परमात्मा का सख्य प्राप्त कर हम कभी नष्ट नहीं होंगे। जिन लोगों ने परमेश की मैत्री प्राप्त कर ली और जो उसके ही सान्निध्य में रहते हैं, उनके विनष्ट होने की तो कोई सम्भावना ही नहीं है।

□□

[३०]

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

—ऋ० १/९४/१३

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**कुत्स आंगिरसः**

यह अग्निदेव महान् है, महामहिमाशाली है। संसार में जितने दिव्य गुण-कर्मवाले देव संज्ञा से अभिहित किये जानेवाले व्यक्ति या पदार्थ हैं, उनमें ये अग्नि परमात्मा उत्कृष्ट देव हैं। वस्तुतः अन्यों को दिव्यता प्रदान करनेवाले अग्नि तो देवों में भी श्रेष्ठ देव हैं। आश्चर्यकारी गुण, कर्म, स्वभाववाले ये अग्निदेव ही हमारे सुखकारी मित्र हैं। इनसे बढ़कर शुभचिन्तक, हितेच्छु मित्र अन्य कौन होगा? संसार में जो प्रकाश करनेवाले अथवा बसानेवाले 'वसु'-संज्ञक पदार्थ हैं उनमें सर्वश्रेष्ठ वसु हैं। वस्तुतः परमात्मा ने ही तो संसार की रचना कर उसे प्राणियों के निवास-योग्य बनाया है, अतः उन्हें वसुओं में उत्कृष्ट वसु कहना समीचीन ही है। हम लोकहित तथा जनकल्याण के लिए जिन अहिंसनीय यज्ञों का विधान करते हैं, उनके अधिष्ठाता वे सुन्दर अग्निदेव ही हैं। हमारे यज्ञरूपी सभी शुभ कर्मों में रमणीयतम अग्नि ही मुख्य देवता के रूप में विराजित होते हैं। परमात्मा की मित्रता अत्यन्त विस्तीर्ण, व्यापक तथा सुखद है। लौकिक मित्र तो अवसर आने पर आँखें भी चुरा लेते हैं, किन्तु परमात्मा की दिव्य मैत्री को पाकर जीव कभी निराशा अनुभव नहीं करता, अतः भक्त की यह प्रार्थना अत्यन्त सुखवर्धक है, जिसमें वह कहता है कि हे अग्नि! तेरा सख्य पाकर हम कभी विनष्ट न हों। हमारा सुख-सौभाग्य निरन्तर बढ़ता रहे।

□□

[३१]

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम्॥ —ऋ० १/९७/६

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**कुत्स आंगिरसः**

मन्त्र में अग्नि परमात्मा को 'विश्वतोमुख' तथा 'परिभूः' इन दो विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। सबमें व्याप्त होने तथा सर्वान्तर्यामी होने के कारण वह परमात्मा विश्वतोमुख है। हम सामान्य लोग एक मुखवाले हैं। हमारे नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रिय एक बार में एक ही वस्तु या पदार्थ को लक्षित करते हैं, जबकि सर्वज्ञ और सर्वत्र उपस्थित होने के कारण अग्निदेव के मुख (यदि उपचार से ऐसा कहा जाए) तो सब दिशाओं में हैं। पुरुष संज्ञा से पुकारा जानेवाला यह परमात्मा अपने इन्हीं गुणों के कारण अन्यत्र (यजुर्वेद ३१/१ में) सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपात् आदि पदों से सम्बोधित किया गया है। उसने इस ब्रह्माण्ड को सब ओर से परिवेष्टित किया है। सर्वत्र व्यापक होने और सबको अपने भीतर समाहित कर रखने के कारण उसे परिभूः कहना सर्वथा उचित है। अब हम उस सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा परमेश से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें पापों से बचाए, पापकृत्यों से दूर रक्खे। परमात्मा हमें पापों से दूर रहने की सामर्थ्य प्रदान करता है, क्योंकि सर्वज्ञ होने से वह हमारे सम्पूर्ण कर्मों को भली-भाँति जानता है। जब हम उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वत्र विद्यमान जान लें तो हमारे लिए पापों में प्रवृत्त होने का अवकाश ही कहाँ रहेगा? मनुष्य पाप तभी करता है जब वह जान लेता है कि उसके इस दुष्कृत्य को देखनेवाला अन्य कोई नहीं है, अतः विश्वतोमुख अग्नि को जानकर हम पापकर्मों से सदा बचते रहते हैं।

□□

[३२]

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ।।

—ऋ० १/९९/१

देवता—**जातवेदा अग्निः** ; ऋषि—**मरीचिपुत्र कश्यपः**

उत्पन्न हुए इस सम्पूर्ण जगत् को जाननेवाला परमेश्वर ही 'जातवेदा' है। वही विज्ञानस्वरूप होने से अग्नि भी है। संसार में जितने ऐश्वर्ययुक्त पदार्थ हैं, वे 'सोम' नाम से पुकारे जाते हैं। परमात्मा के प्रति अतिशय प्रीति रखनेवाला भक्त कहता है कि हे प्यारे प्रभो! संसार में जो अत्यन्त विशिष्ट गुणयुक्त सोमसंज्ञक पदार्थ हैं, वे सब आपके लिए ही हैं, आपके लिए समर्पित हैं। परमात्मा भक्तों के प्रति दयालु है, साथ ही न्यायकारी होने के कारण दुष्टजनों, पापियों और अधर्मात्माओं के सम्पूर्ण ऐश्वर्य एवं बल को नष्ट करनेवाला भी है। उसका यह दण्डात्मक विधान इसीलिए है ताकि दुष्टजन अपने पापकृत्यों को त्यागकर सन्मार्ग के पथिक बनें। जिस प्रकार एक चतुर मल्लाह नौका के द्वारा पथिक को दुस्तर नदी या समुद्र के पार ले-जाता है, उसी प्रकार परमात्मा भी हमारी जीवन-नौका को भवसागर से पार ले-जाने के लिए प्रबुद्ध खेवनहार बनता है। संसार के दुःसह दुःखों से पार ले-जानेवाला वह परमात्मा ही हमारा परम सहायक और हितकारी है। वही हमारी स्तुति और प्रार्थना का पात्र है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र को अपने 'आर्याभिविनय' ग्रन्थ में स्थान दिया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वे इसे प्रार्थना के लिए अत्यन्त उपयुक्त मानते थे। संस्कारविधि में वर्णित संध्याविधि में यही मन्त्र उपस्थान-मन्त्रशृंखला में भी प्रथम स्थान पर रक्खा गया है।

□□

[३३]

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥

—ऋ० १/१०२/४

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**कुत्स आंगिरसः**

ऋषि दयानन्द ने स्वकृत ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र का युद्धपरक अर्थ किया है, जब कि 'आर्याभिविनय' में वे इसे प्रार्थनापरक अर्थ में नियोजित करते हैं। वस्तुतः जीवन भी एक संग्राम ही है और इसमें हमें विजय तभी प्राप्त हो सकती है जब हम इन्द्र=परमात्मा को अपना संगी, साथी एवं सहायक बनाएँ। उसकी सहायता से ही हम इस महाभयंकर संग्राम में विजयी हो सकेंगे। हमारे दुर्गुणरूपी शत्रु तो निश्चय ही पराजित होंगे, क्योंकि हमने अपने सद्गुणों से उन्हें निगृहीत कर लिया है। फिर परमात्मा भी हमारा सहायक है, जो प्रत्येक युद्ध में हमारी सेना का सहायक और रक्षक बन जाता है। जब हम परमात्मा की एकनिष्ठ सहायता लेकर जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए निकल पड़ते हैं तो महान् ऐश्वर्यों का स्वामी वह विजयशील इन्द्र हमारी कठिनाइयों को दूर कर हमारी विजय-यात्रा को सुगम बना देता है। साथ ही जो अज्ञान, अन्याय, पाप, अत्याचार आदि हमारे दुष्ट शत्रु हैं, उन्हें नष्ट करने में भी वह इन्द्र=परमात्मा हमारा सहायक होता है, अतः इस मन्त्र का स्पष्ट संदेश है कि जीवन-संग्राम में विजयी बनने के लिए हम इन्द्र को अपना सखा और सहायक बनाएँ। कारण स्पष्ट है—उस जयशील भगवान् ने अतीत में भी अपने भक्तों की प्रत्येक कठिनाई में सहायता की है। हमारी कठिनाइयों को दूर कर जीवनयात्रा को सुगम बनानेवाला भी वही है और वही दुष्टों का दलन करने में सदा सन्नद्ध रहा है। उसकी सहायता से ही हम विजयी होते हैं।

□□

[३४]

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ अर्भ॒कं मा न॒ उक्ष॑न्तमु॒त मा न॑ उक्षि॒तम्।
मा नो॑ वधीः पि॒तरं॒ मोत मा॒तरं॒ मा नः॑ प्रि॒यास्त॒न्वो॑ रुद्र रीरिषः ॥

—ऋ० १/११४/७

देवता—**रुद्रः** ; ऋषि—**कुत्स आंगिरसः**

परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव दिव्य हैं। वह संसार का यदि सर्जक और पालक है तो यथानियम उसका संहारक भी है। उसकी एक संज्ञा रुद्र भी है, क्योंकि वह दुष्टों और पापियों को नष्ट करता है, उन्हें रुलाता है। अत्याचारियों और अन्यायियों के विनाशक ऐसे ही न्यायप्रिय परमात्मा से भक्त की प्रार्थना है कि उसका यह दण्डरूपी कठोर वज्र दुष्टों एवं पापियों पर ही गिरे। समाज में जो ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध जन हैं, वे परमात्मा के कोप के कभी शिकार न हों। इसी प्रकार जो न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म तथा सत्य-असत्य में विवेक न करनेवाले शिशु हैं, वे भी परमात्मा के क्रोध से बचे रहें। जो युवा लोग समाज के हितरक्षण में प्रवृत्त रहते हैं, वे भी परमात्मा के रोष के पात्र न बनें और माताओं के गर्भ में स्थापित भ्रूण भी सुरक्षित रहें ताकि यथासमय उनका सुखपूर्वक प्रसव हो सके। रुद्र परमात्मा से भक्त पुनः याचना करता है कि हमारा पालन करनेवाले माता-पिता सुरक्षित रहें और इसी प्रकार अन्य प्रिय परिजन भी परमात्मा की कृपा और अनुग्रह के पात्र बनें। निश्चय ही रुद्र तो दुष्टों, अत्याचारियों और पापियों का ही विनाशक है। जो छल-छिद्ररहित निर्दोष प्रजा है, वह तो उसके सहायता-कवच में रहकर सदा सुरक्षित रहती है। ऋग्वेदभाष्य में ऋषि दयानन्द प्रस्तुत मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं कि "जिस प्रकार ईश्वर पक्षपातरहित होकर धार्मिकों का सहायक और पापियों का विनाशक होता है, वैसा ही हमें भी होना चाहिए।"

□□

[३५]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ० १/१६४/२०

देवता—**विश्वे देवाः** ; ऋषि—**दीर्घतमा औचथ्यः**

ईश्वर, जीव तथा प्रकृति, इन तीन अनादि सत्ताओं का प्रतिपादक यह प्रसिद्ध मन्त्र ऋग्वेद के अतिरिक्त श्वेताश्वतरादि उपनिषदों में भी आया है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के जिस १६४वें सूक्त में यह मन्त्र आया है, उसे अस्यवामीय सूक्त का नाम दिया गया है। यह सूक्त मुख्यतः अनेक दार्शनिक विषयों की रहस्यवादी शैली में विवेचना करता है। आलोच्य मन्त्र में ईश्वर और जीव को चैतन्य तथा पालनादि गुणों के कारण 'सुपर्ण', व्याप्य-व्यापक-भाववाले होने के कारण समवयस्क 'सयुजा' तथा परस्पर मित्रतायुक्त होने के कारण 'सखा' कहा गया है। ये दोनों चेतनतत्त्व अनादि मूलकारण प्रकृतिरूपी वृक्ष पर विराजमान हैं। इनमें जो जीव है वह तो संसाररूपी वृक्ष के पाप-पुण्यरूपी फलों को खाता है (अर्थात् परमात्मा की न्याय-व्यवस्था के अनुसार स्वकर्मों के फलों को यथान्याय भोगता है।), जबकि दूसरा सच्चिदानन्द लक्षणयुक्त परमात्मा ऐसे फलों को न भोगता हुआ साक्षीरूप से सदा विद्यमान रहता है। ऋषि दयानन्द के अनुसार इस मन्त्र में रूपकालंकार है। जीव, ईश्वर तथा सृष्टि के उपादानकारणरूप प्रकृति—ये तीनों पदार्थ अनादि हैं। इनमें जीव और ईश्वर तो मित्र के तुल्य हैं। अन्तर यही है कि जीव पाप-पुण्यात्मक कर्म करता है तथा उनके उत्पन्न फलों को भी भोगता है, जबकि ईश्वर सर्वव्यापक है। वह न्याययुक्त पाप-पुण्य का फल जीवात्मा को प्रदान करते हुए न्यायाधीश की भाँति तटस्थ-भाव से सृष्टि में जीवों के क्रियाकलाप को मात्र देखता ही है।

□□

[३६]

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

—ऋ० १/१६४/३५

देवता—**विश्वे देवाः** ; ऋषि—**दीर्घतमा औचथ्यः**

वेदों को सृष्टि का प्रथम काव्य कहा गया है। काव्य में जो उक्तियाँ आती हैं उनकी शैलियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रश्नोत्तर-शैली के अनेक मन्त्र वेदों में यत्र-तत्र आए हैं। प्रस्तुत मन्त्र इससे पूर्वोक्त मन्त्र **'पृच्छामि त्वा'** का उत्तर है। ३४वें मन्त्र में पूछा गया था कि पृथिवी का अन्त क्या है, भुवन की नाभि (बंधन या केन्द्रस्थान) क्या है, सेचनकर्त्ता अश्व का रेत क्या है तथा वाणी का परम व्योम (अवकाश) क्या है? इन्हीं चारों का उत्तर इस मन्त्र में निम्न प्रकार से दिया गया है—इस वेदी को ही पृथिवी का परिमाण या सीमा मानना चाहिए। धरती गोल है, इसलिए वेदी (मध्यरेखा) को ही उसका अन्त्यभाग मानना उचित है। यज्ञरूपी परमात्मा, जो सर्वोपरि पूजनीय है, वही इस लोक तथा अन्य लोकों का केन्द्र है। उसी के सहारे समस्त भुवन स्थित हैं। सोम जो ओषधियों में सर्वोत्तम है, वही अश्व-तुल्य बलवान् पुरुषों में पराक्रम उत्पन्न करता है। चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा ही वेदरूपा वाणी का उत्तम आधारस्थल है। यदि देखा जाए तो किसी एक स्थान को धरती का केन्द्रबिन्दु नहीं कहा जा सकता। हम जहाँ भी हाथ धर दें या डण्डा गाड़ दें, वहीं धरती का मध्य होगा। समस्त लोक-लोकान्तरों का संचालन यज्ञ-जैसी परोपकार-संवलित संस्था के द्वारा होता है, अतः वह यज्ञ ही सारे भुवनों की नाभि या केन्द्रस्थल है। बलदायक ओषधि सोम ही शक्तिवर्धक है और ब्रह्मा चतुर्वेदविद् होने के कारण वाणी का मुख्य आधार है।

□□

[३७]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

—ऋ० १/१६४/३९

देवता—**विश्वे देवाः** ; ऋषि—**दीर्घतमा औचथ्यः**

वेदों के समस्त मन्त्र प्रत्यक्षतया या प्रकारान्तर से परमात्मा का ही बखान करते हैं। प्रत्येक ऋचा में उसी उत्कृष्ट ब्रह्म का ही वर्णन है जो आकाशवत् सर्वव्यापक और सर्वत्र विद्यमान है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि दिव्य पदार्थों—देवताओं का आश्रयस्थान भी वह परमात्मा ही है। उसी ने पृथिवी आदि लोक-लोकान्तरों को अपने अपार सामर्थ्य द्वारा धारण किया है। यह सत्य **येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा** (ऋ० १०/१२१/५) आदि मन्त्रों में प्रकट किया गया है। निश्चय ही परमेश्वर इन देवों का आधार है, जबकि सूर्यादि दिव्य गुणोंवाले देवता उसके आधेय हैं। वेद के पठन-पाठन का मुख्य प्रयोजन तो उस परम तत्त्व को जानना ही है। यदि हमने वेदों के पठन और अध्ययन में तो सारा जीवन लगा दिया, किन्तु इन ग्रन्थों के चरम प्रतिपाद्य परमेश को नहीं जाना तो सच मानिए, चारों वेदों की ये हमारे द्वारा पठित ऋचाएँ हमारा क्या भला कर पाएँगी? वेदों के स्थूलार्थ का ज्ञान तो आवश्यक है, उससे भी अधिक उनके मुख्य विषय परमात्मा को जानना आवश्यक है। जिन लोगों ने परमात्मा को जान लिया, वे ही उस ब्रह्म में सम्यक् रूप से स्थिर होते हैं तथा अपनी मानसिक अशान्ति को दूर कर शाश्वत सुखों का उपभोग करते हैं। मन्त्र का भावार्थ लिखते हुए ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट किया है कि "समस्त वेदों का परम प्रमेय (जानने योग्य तत्त्व) ब्रह्म, जीव तथा कार्यकारणरूप जगत् है, किन्तु जीवों तथा संसार का आधार तो व्योम-तुल्य परमात्मा ही है।

□□

[३८]

च॒त्वारि॒ वाक्परि॑मिता प॒दानि॒ तानि॑ विदुर्ब्राह्म॒णा ये म॑नी॒षिण॑ः।
गुहा॒ त्रीणि॒ निहि॑ता॒ नेङ्ग॑यन्ति तु॒रीयं॑ वा॒चो म॑नु॒ष्या॑ वदन्ति॥

—ऋ० १/१६४/४५

देवता—**वाक्** ; ऋषि—**दीर्घतमा औचथ्यः**

प्रस्तुत मन्त्र में वाक्तत्त्व की विवेचना की गई है। ऋषि दयानन्द के अनुसार वाक् के चार भेद हैं जो नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातरूप से निरुक्त आदि शास्त्रों में वर्णित हुए हैं। **'सत्त्वप्रधानानि नामानि'** कहकर निरुक्तकार ने द्रव्य की 'नाम' संज्ञा की है। क्रिया की प्रधानतावाले पद को 'आख्यात' कहा गया है—**भावप्रधानमाख्यातम्।** नाम और आख्यात के अर्थ का परिवर्तन करनेवाले प्र, परा, अभि, प्रति आदि 'उपसर्ग' कहलाते हैं। भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध करानेवालों की 'निपात' संज्ञा है। अन्य व्याख्याकारों ने 'चत्वारि वाक्' के अन्तर्गत परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—वाणी के इन चार भेदों को लिया है। वस्तुतः वाणी के इन रहस्यों को मनीषी ब्राह्मण (विद्वान् लोग) ही जानते हैं। इनमें से प्रथम तीन तो विद्वान् मनुष्य की बुद्धि में निहित हैं, जबकि साधारण मनुष्य जिस वाणी का उच्चारण करते हैं, वह चतुर्थ वैखरी वाणी है जो सामान्य अर्थों को प्रकट करने में प्रयुक्त की जाती है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ करते समय यह विशेष लिखा है कि "विद्वानों और अविद्वानों में इतना ही भेद है कि विद्वान् लोग तो नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को भली-भाँति जानते हैं। इनमें से तीन तो उनके ज्ञान में रहते हैं जबकि चौथे सिद्ध शब्दसमूह का प्रसिद्ध व्यवहार ही सारे लोग जानते हैं।" साधारण मानव द्वारा प्रयुक्त होनेवाली वाणी ही वैखरी है, जबकि परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा परोक्ष रहती हैं।

□□

[३९]

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

—ऋ० १/१६४/४६

देवता—**विश्वे देवाः** ; ऋषि—**दीर्घतमा औचथ्यः**

वेदों में एकेश्वरवाद की शिक्षा सर्वत्र व्यक्त हुई है। प्रस्तुत मन्त्र अत्यन्त स्पष्ट रीति से कहता है कि बुद्धिमान् तथा विचारशील लोग उस एक परमात्मा को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम तथा मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। परमैश्वर्ययुक्त होने के कारण वह परमात्मा 'इन्द्र' है, सब प्राणियों का हितकारी होने से 'मित्र' है, श्रेष्ठ और वरणीय होने के कारण 'वरुण' है, सर्वव्यापक, ज्ञानस्वरूप तथा अग्रगामी होने के कारण 'अग्नि' है, अलौकिक होने के कारण उसकी 'दिव्य' संज्ञा है, उत्तम रीति से पालनकर्त्ता होने के कारण वह 'सुपर्ण' है, सर्वनियन्ता तथा सबका नियामक होने के कारण वह परमात्मा 'यम' कहलाता है और प्रचण्ड तथा अप्रतिहत गतिवाला होने के कारण वह 'मातरिश्वा'-संज्ञक भी है। निश्चय ही परमात्मा के नाना नामों को यथावत् जानने तथा उसकी एकानुभूति करनेवाले लोग ही 'विप्र'-संज्ञक हैं। ऋषि दयानन्द ने विप्र का अर्थ 'मेधावी' किया है। मन्त्र का भावार्थ लिखते हुए वेदाचार्य दयानन्द स्पष्ट करते हैं कि "एक ही परमात्मा के अग्नि आदि सहस्रों नाम हैं। उस परमेश्वर के जितने गुण, कर्म और स्वभाव हैं उसके नाम भी उतने ही हैं।" तथापि उसके गुणों, कर्मों और स्वभावों की गणना शक्य नहीं है, अतः परमेश के नाम भी असंख्य हैं। वेदों में केवल संकेतरूप से ही अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, पूषन्, मरुत्, यम आदि को परमात्मा कहकर वर्णित किया गया है।

□□

[४०]

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

—ऋ० १/१६४/५०

देवता—**साध्याः** ; ऋषि—**दीर्घतमा औचथ्यः**

यजुर्वेद के प्रसिद्ध पुरुषाध्याय में आया यह मन्त्र ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त का ५०वाँ मन्त्र है। यहाँ परमात्मा को 'यज्ञ' कहकर पुकारा गया है, जो 'पूजनीय' का वाचक है। देवपुरुष उस यज्ञरूप परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना यज्ञरूपी साधन से करते हैं। पूजनीय पुरुष यज्ञ है और उसकी उपासना का साधन भी यज्ञ (संध्योपासना आदि पञ्चमहायज्ञ तथा अन्य लोकहितार्थ किये जानेवाले कृत्य) ही हैं। इन विद्वान् देवपुरुषों ने ही सृष्टि के आदिकाल में ब्रह्मचर्यादि धर्मों को मनुष्यमात्र के कर्त्तव्य के रूप में निर्धारित किया। इस प्रकार यज्ञ नामक साधन से परमात्मा की उपासना में तत्पर देवपुरुषों ने निश्चय ही सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त कर स्वयं पूज्यता को प्राप्त किया तथा सुख-लाभ किया। परमात्मा के सान्निध्यरूपी मोक्ष को पूर्वकाल के अधीत-विद्य देवों तथा साध्य पुरुषों ने प्राप्त किया था। अपने भाष्य में प्रस्तुत मन्त्र के भावार्थ में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"जो आयु के आरम्भकाल में ब्रह्मचर्य, सुशिक्षा आदि धर्मों का सेवन करते हैं, वे आप्त विद्वान् देवसंज्ञक पुरुष यज्ञरूपी उत्तम साधन से यज्ञ नामधेय परमात्मा की उपासना करते हैं। वे ही विद्यारूपी आनन्द को प्राप्त कर सर्वत्र सम्मान प्राप्त करते हैं।" आचार्य दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सृष्टिविद्याप्रकरण में भी इस मन्त्र का विस्तृत अर्थ लिखा है।

□□

[४१]

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥

—ऋ० २/१२/१

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**गृत्समदः**

इन्द्र (परमेश्वर) की स्तुति में कहा गया ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का यह प्रसिद्ध मन्त्र है। संसार की रचना से पूर्व ऐश्वर्यवान् परमात्मा (इन्द्र) अपनी सम्पूर्ण महिमा तथा गरिमा के साथ स्वयंभू होने से सर्वत्र विद्यमान था। वह ईश्वर त्रिकालाबाधित है। वह अतीत में था, वर्त्तमान में है तथा भविष्य में भी रहेगा। संसार में जो मनस्वी देव हैं, विचारशील तथा दिव्य गुणसम्पन्न पुरुष हैं, उनमें यह परमैश्वर्यवान् इन्द्र अपने श्रेष्ठ गुण-कर्मों के कारण शिखर-स्थान पर विराजमान है। अन्य देव तो अपने उत्तम गुण-कर्मों के कारण सम्मानास्पद हैं ही, परमदेव परमात्मा तो उनका शीर्षस्थ है। उसके अतुल बल, पराक्रम तथा वीर्य का क्या कहना? अपने तेज और बल से वह पृथिवी से द्युलोक-पर्यन्त निखिल ब्रह्माण्ड को भयभीत करता है, स्व-अनुशासन में रखता है। यह परमात्मा का भय अथवा अनुशासन ही है जिसके कारण द्यावापृथिवी (रोदसी) उसके वशवर्ती हैं। ऐसा इन्द्र स्वकीय तेज और बल से स्वयं महिमान्वित हो रहा है। उपासक लोगों को चाहिए कि वे इसी सर्वगुणयुक्त इन्द्र परमात्मा को यथावत् जानें तथा उसकी ही उपासना करें। ऋषि दयानन्द ने मन्त्रगत इन्द्र का सूर्यपरक अर्थ करते हुए लिखा—"जिस ईश्वर ने सर्वप्रकाशक, सर्वाधार, आकर्षणशक्ति से युक्त सूर्यलोक का निर्माण किया, वह तो सूर्य का भी सूर्य है। यह जानकर हमें उस परमदेव परमात्मा की ही उपासना करनी चाहिए।"

□□

[४२]

यस्याश्वा॑सः प्र॒दिशि॒ यस्य॒ गावो॒ यस्य॒ ग्रामा॒ यस्य॒ विश्वे॒ रथा॑सः।
यः सूर्यं॒ य उ॒षसं॑ ज॒जान॒ यो अ॒पां ने॒ता स ज॑नास॒ इन्द्रः॑॥

—ऋ० २/१२/७

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**गृत्समदः**

परमेश्वर की आज्ञा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड—चराचर जगत् में प्रवर्त्तित हो रही है। सारा जीवजगत् परमपिता इन्द्र का आज्ञानुवर्ती अनुचर है। इन्द्र का आदेश प्राप्त कर अश्व और गाय आदि पशु यत्र-तत्र विचरते हैं। मनुष्यों ने जिन ग्रामों, जनपदों और बस्तियों को बसाया है, वहाँ के रहने वाले लोग भी ईश्वरीय आदेश का पालन करते हुए यत्र-तत्र विचरण करते हैं। रथों में बैठकर भ्रमण करनेवाले श्रीसम्पन्न पुरुष भी परमात्मा की आज्ञा का ही पालन करते हैं। निश्चय ही ब्रह्माण्ड के संचालक परमदेव इन्द्र का सार्वकालिक अनुशासन ही इस संसृति का नियामक है। इन्द्र ने ही सृष्टि की रचना की है। सौरमण्डल के केन्द्र-स्थानीय सूर्य का उत्पादक भी परमात्मा ही है। उसने दिवस और रात्रि का कालक्रम निर्धारित किया है, अतः अन्धकारमयी रात्रि की समाप्ति पर उषाकाल का उज्ज्वल प्रकाश भी परमात्मा द्वारा ही उत्पन्न किया गया है। वह परमात्मा ही जलराशि का प्रवाहक होने से **'अपां नेता'** कहलाता है। मेघों को छिन्न-भिन्न कर जलधाराओं को प्रवाहित करनेवाले उस महान् शक्तिशाली, अनन्त वैभववान् इन्द्र-संज्ञक परमात्मा को सम्यक् रूप से जानना प्रत्येक भक्त और उपासक का कर्त्तव्य है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इस पञ्चभूतात्मक जगत् तथा प्राणी-सृष्टि का सर्जक, पालक तथा नियामक इन्द्र नाम से पुकारा जानेवाला परमेश्वर है। वही जानने योग्य है।

□□

[४३]

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २/१२/८

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**गृत्समदः**

परमेश्वर की आराधना-उपासना सभी श्रेणियों के मनुष्य करते हैं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ा मनुष्य अपने पर अनुग्रह कराने हेतु, विपरीत स्थिति से त्राण पाने के लिए आकुल-व्याकुल होकर परमात्मा को ही पुकारता है। युद्ध के मैदान में हम देखते हैं कि दो सेनाएँ एक-दूसरे से युद्ध के लिए तत्पर होकर शोर मचाती आ गई हैं। वीरों के जयघोष से आकाश गूँज रहा है। अपनी विजय और शत्रुपक्ष की पराजय के लिए एक-दूसरे के शत्रु बने युद्ध-रत दोनों पक्ष परमात्मा को ही सहायता के लिए पुकारते हैं। स्वयं को श्रेष्ठ माननेवाले तथा परपक्ष को निकृष्ट कहनेवाले युद्ध के लिए तैयार दोनों ही पक्ष अपनी सहायता के लिए परमात्मा का ही आह्वान करते हैं। यहाँ तक देखने में आता है कि एक ही रथ पर बैठे हुए दो योद्धा उस एक ईश्वर को ही नाना प्रकार से पुकारते हैं। योद्धा और सारथी एक ही रथ पर बैठते हैं और दोनों अपने-अपने ढंग से परमात्मा का आह्वान करते हैं। इनकी पूजा=उपासना की प्रणाली भिन्न हो सकती है, किन्तु दोनों का लक्ष्य तो परमात्मा ही है। संसारी व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में चाहे कितना ही अन्तर और वैषम्य क्यों न हो, परमात्मा की दृष्टि में तो वे समान ही हैं। अन्तर है तो इसी बात को लेकर है कि इनमें परमात्मा की आज्ञाओं का पालन करनेवाला कौन है और उनकी अवहेलना करनेवाला कौन है।

□□

[४४]

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥

—ऋ० २/१२/९

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**गृत्समदः**

जीवन-संग्राम में प्रभु-भक्त ही विजयी होता है। बिना परमात्मा को सहायक बनाए आप इस घोर दुस्तर भवसागर को कैसे पार कर सकते हैं? जिस प्रकार दो दलों या सेनाओं का परस्पर युद्ध चलता है और दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी विजय के लिए परमात्मा से सहायता की याचना करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के भीतर रहनेवाली दैवी और आसुरी वृत्तियों का भी सतत संघर्ष चलता है। परमात्मा तो सभी का मित्र और हितचिन्तक है, अतः देवता हों या राक्षस, सभी अपनी-अपनी विजय के लिए उसे ही पुकारते हैं और उसीसे सहायता माँगते हैं। सत्य तो यह है कि उसकी सहायता के बिना जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करना कठिन है, परन्तु साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि परमात्मा भी उसी का सहायक बनता है जो सत्य, धर्म और न्याय के पक्ष पर आरूढ़ है। इस लोक का परमेश ही प्रतिमान है, प्रकाश-स्तम्भ है। इन्द्र की शक्ति अपार है। वह स्वयं को स्थिर, अविचल तथा सर्वथा सुदृढ़ समझनेवाले को भी क्षणमात्र में अस्थिर तथा चलायमान कर सकता है। अत्यन्त शक्तिशाली, बलोन्मत्त, पाशविक दम्भ से भरपूर दुष्टजनों को दण्डित करना इन्द्र परमात्मा के लिए अत्यन्त सहज है। स्वभाष्य में ऋषि दयानन्द ने मन्त्र के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा—"जो परमात्मा की उपासना नहीं करते, उन्हें सहायता के लिए नहीं पुकारते, वे कभी विजयशील नहीं होते।"

□□

[४५]

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २/१२/१३

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**गृत्समदः**

इन्द्र की महिमा का ज्ञापक यह मन्त्र महाबलवान् परमेश्वर के अलौकिक पराक्रम तथा उसकी सर्वोपरि सत्ता का ओजस्वी शैली में वर्णन करता है। इस शक्तिशाली परमात्मा के समक्ष द्युलोक तथा पृथिवीलोक भी झुकते हैं, मानो वे उसे अपना प्रणाम निवेदन कर रहे हैं। इसी सर्वशक्तिमान् के बल के समक्ष पर्वत भी भय प्रकट करते हैं। वेद के इसी अभिप्राय को कठ-उपनिषत्कार ऋषि ने इस प्रकार प्रकट किया—

"परमात्मा के इस भय (अनुशासन) को मानकर ही अग्नि तपता है, उसी की सर्वोपरि सत्ता को स्वीकार कर सूर्य भी सृष्टि को ताप देता है। जलवर्षक मेघ तथा वायु भी उसके भय को मानते हैं, यहाँ तक कि मृत्यु भी उसके आदेश को स्वीकार करता है।" (कठ० ६/३)

जो परमात्मा भक्त द्वारा प्रस्तुत सोमरूपी भक्तिरस का पान करता है, वह वज्र-तुल्य हाथोंवाला तथा स्वहस्त में प्रचण्ड न्यायरूपी वज्र को धारण करनेवाला इन्द्र ही हम उपासकों द्वारा जानने योग्य है। प्रचण्ड शक्तिवाले इन्द्र के हाथों का कथन तो मात्र कल्पना ही है। मन्त्र में प्रयुक्त वज्रबाहुः और वज्रहस्तः दोनों एक ही भाव के द्योतक प्रतीत होते हैं, किन्तु वेदों का प्रत्येक पदप्रयोग साभिप्राय होता है, अतः प्रचण्ड प्राणशक्तिवाला इन्द्र 'वज्रबाहु' है जबकि दुष्टों के विनाश में तत्पर इन्द्र 'वज्रहस्त' है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भौतिक अर्थ किया है। यहाँ इन्द्र सूर्य का वाचक है, जो सौरमण्डल का केन्द्र तथा प्रचण्ड शक्तियुक्त है।

□□

[४६]

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

—ऋ० २/२१/६

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**गृत्समदः**

इन्द्र परमात्मा परम दानशील है। उसकी उदारता तथा भक्तजनों को दी जानेवाली उसकी विभूतियों की कोई सीमा नहीं है। जब वह परमदाता है, सभी कुछ देनेवाला है तो उसे छोड़कर अन्य किसी क्षुद्र व्यक्ति से हम याचना क्यों करें? इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर उपासक परम दानी इन्द्र से याचना करता है—हे परमैश्वर्ययुक्त परमात्मन्! आप हमें श्रेष्ठ धन दीजिए। सोना, चाँदी, रत्न आदि मूल्यवान् पदार्थ तो धन हैं ही, सर्वोपरि धन तो विद्या तथा ज्ञान है, जिसकी याचना करना भक्त को अभीष्ट है। इन्द्र से ही हम बल तथा ज्ञान की याचना करते हैं। वह आत्मदा और बलदा है, जिससे हमें शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल प्राप्त होता है। वह हमें सब प्रकार के सौभाग्य, उत्तम ऐश्वर्य तथा धन भी प्रदान करता है। शरीरों की रक्षा तथा आरोग्यता के लिए भी हम उसे ही पुकारते हैं। वाणी की मधुरता तथा स्निग्धता भी उसी ने दी है। मानव को वाणी जैसी अद्भुत शक्ति देकर परमात्मा ने भारी उपकार किया है। यह वाणी जितनी मधुर और भद्र होगी, मनुष्य अपने लौकिक व्यवहार में उतना ही सफल होगा, अतः वाणी की मधुरता और स्निग्धता हमारा प्रथम लक्ष्य होना चाहिए।

जीवन की सार्थकता इसी में है कि हम उत्तम ऐश्वर्य, उत्तम प्रज्ञान, स्वस्थ शरीर तथा माधुर्य—रसपूर्ण वाणी के स्वामी बनें और यह इन्द्र के दान से ही सम्भव है।

□□

[४७]

अ॒रण्यो॒र्निहि॑तो जा॒तवे॑दा॒ गर्भ॑ इ॒व सुधि॑तो ग॒र्भिणी॑षु।
दि॒वेदि॑व॒ ईड्यो॑ जागृ॒वद्भि॑र्ह॒विष्म॑द्भिर्मनु॒ष्ये॑भिर॒ग्निः॥

—ऋ० ३/२९/२

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**गाथिनो विश्वामित्रः**

अग्नि नामधेय परमात्मा का स्तवन, पूजन और वंदन हम नित्य करें। इसमें किसी प्रकार का व्यवधान या बाधा न आए। प्रस्तुत मन्त्र कहता है—वह परमात्मा अन्तर्यामी है। जिस प्रकार यज्ञ की अरणियों (समिधा) में अग्नि निहित रहती है और ऊपर तथा नीचे रक्खी गई अरणियों के घर्षण से वह अग्नि प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार अन्तःस्थ परमात्मा उपासना से भक्त को दर्शन देता है, हमें वह अपनी सत्ता का अनुभव कराता है। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने गर्भस्थ भ्रूण के विकास में तल्लीन रहती है, उसी प्रकार योगी जनों को भी परमात्मा की स्तुति और उपासना सावधानतापूर्वक करनी चाहिए। वस्तुतः ज्ञानस्वरूप यह ब्रह्माग्नि अज्ञान से दूर रहनेवाले, अप्रमत्त योगियों द्वारा ही उपास्य, वंदनीय तथा आराधनीय है।

अरणियों का यह दृष्टान्त श्वेताश्वतर उपनिषद् (१/१५) में भी आया है। वहाँ कहा गया है कि अपने शरीर को नीचे की अरणि बनाओ तथा प्रणव (ओंकार) को ऊपर की अरणि। इस प्रकार ओंकार के जप और स्मरण से जो ध्यान की स्थिति बनेगी, उससे परमात्मा के दर्शन अवश्य होंगे। ऋग्वेद के इसी मन्त्र को कठोपनिषद् ने स्वल्प परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है। लौकिक उपमानों (अरणी तथा गर्भस्थ शिशु) के द्वारा जीवात्मा में विराजमान अन्तर्यामी परमात्मा का संकेत कर उसे ही रात्रिंदिवा उपासना का लक्ष्य घोषित करना इस मन्त्र की विशेषता है।

□□

[४८]

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

—ऋ० ४/२६/१

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**वामदेवो गौतमः**

इस मन्त्र में परमात्मा स्वयं अपने स्वरूप तथा विभिन्न नामों का संकेत प्रथम पुरुष में करते हैं—"मैं ही मननशील होने के कारण मनु नामधारी हूँ, क्योंकि समस्त विद्याओं का प्रकाश मुझसे ही होता है।" राजर्षि मनु का कथन है—

"स्वप्रकाशस्वरूप होने से वही परमात्मा अग्नि है, विज्ञानस्वरूप होने से मनु है, सर्वपालक होने से प्रजापति है, परमैश्वर्यवान् होने से इन्द्र है, सबका जीवनमूल होने के कारण प्राण है तथा वही शाश्वत ब्रह्म है।" मन्त्र में कहा है—"सर्वप्रकाशक होने से मैं ही 'सूर्य'-पद-वाच्य हूँ।" समस्त सृष्टि जिसमें विद्यमान है वही परमात्मा 'कक्षीवान्' कहलाता है। उसे 'ऋषि' नाम से भी पुकारा जाता है, क्योंकि वही वेदमन्त्रों का प्रदाता तथा ज्ञाता भी है। महामेधावी और सर्ववेत्ता होने के कारण वह ईश्वर ही 'विप्र'-पद-वाच्य है। विद्वानों द्वारा निष्पादित वज्र के तुल्य कठोर भी वही है, क्योंकि दुष्टों, आततायियों और अधर्मियों पर वज्र-प्रहार करने का सामर्थ्य भी परमात्मा में ही है। सबकी हित-कामना करनेवाला 'उशना' नामधारी ईश्वर ही सर्वशास्त्रवित् 'कवि' अर्थात् विद्वान् है। हम उसे उसी रूप में देखें जैसा परमात्मा ने उपर्युक्त मन्त्र में स्वयं अपना वर्णन किया है।

यौगिक प्रक्रिया का अनुसरण कर ऋषि दयानन्द ने मनु, कक्षीवान्, कुत्स, आर्जुनेय तथा उशना जैसे शब्दों को मनुष्यविशेष का प्रतीक नहीं माना है, अपितु इनका परमात्मापरक अर्थ किया है। परवर्ती साहित्य में ये नाम व्यक्तिविशेष के बोधक बनकर प्रयुक्त हुए हैं।

□□

[४९]

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्।
नकिरेवा यथा त्वम्॥ —ऋ० ४/३०/१

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**वामदेवो गौतमः**

क्या मनुष्य परमैश्वर्यवान् इन्द्र की महिमा का गान करने में पूर्ण समर्थ है? निश्चय ही परमात्मा के गुणों के अनन्त विस्तार को देखते हुए अल्पज्ञ, अल्पशक्तिवाले, नितान्त अकिंचन जीव की हैसियत या सामर्थ्य ही कितनी है? यही विचार उपासक को यह कहने के लिए प्रेरित करता है कि हे परमेश्वर! तुमसे उत्तर (श्रेष्ठ) अन्य कोई भी नहीं है। संसार में न्याय, दया, स्नेह, करुणा, क्षमाशीलता आदि जितने श्रेष्ठ गुण हैं, उनके परम आगार तो तुम ही हो। आयु में तुमसे कोई बड़ा नहीं है। संसारी प्राणियों की जीवनावधि भी अधिक नहीं होती। सौ वर्ष से अधिक आयु के मनुष्य तो विरल ही होते हैं। अन्य प्राणी भी स्वकर्मफल के अनुसार अपनी आयु को भोग कर संसार से विदा हो जाते हैं, अतः अनादि, अनन्त और सनातन परमात्मा से अधिक बड़ा तो इस संसार में कोई दिखाई नहीं पड़ता। सच तो यह है कि तुम तो अनुपम हो, अद्वितीय हो। जैसे तुम हो, वैसा कोई व्यक्ति या प्राणी हमें दिखाई नहीं देता।

परमात्मा की अनुपमेयता तथा उसके अद्वितीयत्व को प्रख्यापित करनेवाला यह मन्त्र इन्द्र=परमात्मा की सर्वोपरि सत्ता का प्रत्येक पद में उद्घोष करता है। वैदिक धर्म में इसी एक, अद्वितीय, अनुपम, सनातन ब्रह्म की उपासना का सर्वत्र आदेश दिया गया है। इन्द्र से श्रेष्ठ कोई नहीं, उससे बड़ा कोई नहीं, उसके तुल्य कोई नहीं।

□□

[५०]

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे॥ —ऋ० ५/५/१

देवता—**समिद्धोऽग्निः** ; ऋषि—**वसुश्रुत आत्रेयः**

आर्यजाति ने जिस अग्निहोत्र नामक देवयज्ञ को अपनी नित्य की दिनचर्या का एक आवश्यक अंग बनाया था, उसका प्रथम निर्देश भी वेदों में ही उपलब्ध होता है। अग्निहोत्र के अन्तर्गत अग्नि को प्रज्वलित कर उसे शमी, वट, पीपल, पलाश, आम आदि वृक्षों की समिधाओं के द्वारा उद्दीप्त किया जाता है। तत्पश्चात् इस अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि में अच्छी प्रकार तपाए और पिघलाए गए घृत की आहुतियाँ मन्त्रोच्चारणपूर्वक दी जाती हैं। आलोच्य मन्त्र में इसी अग्निहोत्र का विधान किया गया है। ऋषि दयानन्द ने यज्ञकर्म में इस मन्त्र का समिदाधान-कर्म में जो विनियोग किया है, वह सर्वथा सार्थक एवं उपयुक्त है। दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया गया है—"हे मनुष्यो! आप लोग जातवेदसे—उत्पन्न हुए पदार्थों में विद्यमान उत्तम प्रकार से प्रदीप्त (सुसमिद्धाय) और (शोचिषे) पवित्रकारक, शुद्ध एवं दोषनिवारक अग्नि के लिए तीव्रम्—उत्तम प्रकार से शुद्ध किये गए तथा उत्तम घृत का होम करो।" जो लोग अग्निहोत्र में निहित विज्ञान से अनभिज्ञ हैं, वे कहते हैं कि इस प्रकार होम करके घृत तथा अन्य पदार्थों को व्यर्थ ही नष्ट किया जाता है, किन्तु आक्षेपकर्त्ता यह क्यों भूल जाते हैं कि संसार में कोई पदार्थ सदा के लिए नष्ट नहीं होता, केवल उसका स्वरूप-परिवर्तन ही होता है। यज्ञ में हुत घृतादि पदार्थ भी सूक्ष्म हो जाते हैं तथा ये सूक्ष्म कण जल, वायु तथा पर्यावरण को शुद्ध करते हैं।

□□

[५१]

**यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥**

—ऋ० ५/४४/१४

देवता—**विश्वे देवाः** ; ऋषि—**काश्यपोऽवत्सारः**

जागरण और निद्रा, ये दोनों विरोधी अवस्थाएँ हैं। जागरण का विशेष महत्त्व है, क्योंकि मनुष्य अपने कर्त्तव्यकर्मों का पालन और निर्वहन जाग्रत् अवस्था में ही करता है। वेद का भी यही संदेश है कि हम आलस्य और प्रमाद की निद्रा को त्यागें और जाग्रत् रहकर कर्त्तव्यनिष्ठ बनें। जो अविद्यारूपी निद्रा को त्यागकर जाग गया, ऋचाएँ उसकी कामना करती हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों को पढ़ने का लाभ भी उसी को मिलता है जो सजग होकर इसका अध्ययन करता है। जिसने इस जागरण-वेला का लाभ उठाया, उसे ही सामवेद की गीतिकाएँ प्राप्त होती हैं, अर्थात् सामवेद के गायन के लिए भी जागरण-वेला अत्यन्त कमनीय होती है। अधिक क्या कहें! जागरण को महत्त्व देनेवाले व्यक्ति को तो स्वयं सोम परमात्मा का सख्य प्राप्त होता है। जब रात्रि की समाप्ति पर भगवान् का भक्त सावधान होकर उपासना में निमग्न होता है तो अत्यन्त सौम्य स्वभाववाला ईश्वर ही मानो उसे पुकारकर कहता है—हे भक्त! तू चिन्ता मत कर, मैं तेरा ही हूँ। तू मुझसे पृथक् नहीं है। मैं ही तेरा सखा हूँ, तेरा मित्र हूँ। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है—"जो जाग्रत् होकर वेदविद्या को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें ही यह विद्या प्राप्त होती है और इसे प्राप्त करनेवाला मनुष्य अन्यों के साथ मैत्री का आचरण करता हुआ अनेक सुखों को प्राप्त करता है।"

□□

[५२]

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥ –ऋ० ५/५१/१५

देवता–**विश्वे देवाः** ; ऋषि–**स्वस्त्यात्रेयः**

आज का मानव एक चौराहे पर खड़ा दिग्भ्रमित हो रहा है। उसे यह नहीं सूझ पड़ता कि किस मार्ग पर चलने से, जीवन की कौन–सी दिशा अपनाने से उसका कल्याण होगा। ऐसी मनःस्थिति में यदि हम वेद से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहें तो परमात्मा हमें इस प्रकार स्पष्ट आदेश देता है, "हे मनुष्य! तू स्वस्ति अर्थात् कल्याण के मार्ग पर बढ़ता चल। उस मार्ग को स्वीकार कर, उस जीवन–पद्धति को अपना ले जो तेरा कल्याण और सार्वत्रिक हित करनेवाली है।" यह तो वही मार्ग है जिसे वेदों और पुराकालीन ऋषियों ने उपदिष्ट किया है। जिस प्रकार आकाश में सूर्य और चन्द्रमा अपने निश्चित पथ पर चलते हैं, उसी प्रकार हमारे जीने का भी एक निश्चित क्रम होना चाहिए। हमारे जीवन में व्यवस्था और अनुशासन उसी प्रकार आए, जैसा सूर्य और चन्द्रमा के अपने सुनिश्चित मार्ग पर चलने में दिखाई देता है। हमारा यह कल्याण–पथ पर चलना निश्चितरूप से फलदायक होगा, किन्तु यह तभी सम्भव है जब हम दानशील बनें, अहिंसक बनें और स्वयं ज्ञानी बनकर अन्य विद्वज्जनों को भी साथ लेकर चलें। ऋषि दयानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र के भावार्थ में लिखा–"हे मनुष्यो! जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र नियमपूर्वक अहर्निश स्वमार्ग पर चलते रहते हैं, उसी प्रकार आप लोग भी न्याय के मार्ग पर चलते हुए सज्जनों का समागम करते रहें।"

□□

[५३]

तत्स॑वि॒तुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम्।
श्रेष्ठं॑ सर्व॒धात॑मं॒ तुरं॒ भग॑स्य धीमहि॥ –ऋ० ५/८२/१

देवता–**सविता** ; ऋषि–**श्यावाश्व आत्रेयः**

मन्त्र के प्रथमांश का सीधा-सा भाव यह है कि हम सवितादेव के वरणीय भोजन का वरण करें–उसे स्वीकार करें। किन्तु यह अर्थ तो मात्र एक पहेली है, क्योंकि हम यह नहीं जानते कि सवितादेव का भोजन कौन-सा है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? यहाँ ऋषि दयानन्द का भाष्य हमारी सहायता करता है जिसमें भोजन का अर्थ 'पालन' अथवा 'भोक्तव्य' (भोजनीय सामग्री) किया गया है। निश्चय ही सृष्टि का रचयिता, सर्वभूत-पदार्थों का रचयिता सविता परमात्मा जब इस संसार को बनाता है तो उसके पालन के कुछ नियम भी बनाता है। मनुष्य के लिए अति उचित है कि वह उसी ऐश्वर्यप्रदाता, लोक-लोकान्तरों के प्रकाशक सवितादेव के पालनीय नियमों का वरण करे–तदनुसार अपना आचरण बनाए। कारण यह है कि परमात्मा के द्वारा निर्धारित ये नियम अत्यन्त प्रशस्त हैं तथा विश्वब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले हैं। ईश्वरीय नियम को वेदों में 'ऋत' कहा गया है। यही सविता देव का श्रेष्ठ भोजन है। इसका स्वल्पांश भी यदि हम प्राप्त कर लें तो अविद्यादि दोषों के नाशक परमात्मा के सामर्थ्य का एक तुच्छ भाग हमें भी प्राप्त हो जाएगा। मन्त्र के दयानन्दकृत भावार्थ को देखें–"जो मनुष्य सर्वोत्तम जगदीश्वर की उपासना करते हैं और अन्य तुच्छ पदार्थों की उपासना का त्याग करते हैं, वे सर्वैश्वर्ययुक्त होकर सदा सुखी रहते हैं।" अतः सवितादेव के द्वारा निर्धारित नियम ही पालनीय हैं।

□□

[५४]

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते।
नो अस्य व्यथते पविः ।। —ऋ० ६/५४/३

देवता—**पूषा** ; ऋषि—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**

वेदों में परमात्मा को पूषा—पोषणकर्त्ता कहकर पुकारा गया है। संसार का संचालक जो पूषा देवता है, उसके नियम और अनुशासन सनातन हैं, शाश्वत हैं, उनका अतिक्रमण करना सम्भव नहीं है। इस सृष्टिचक्र को चलानेवाले उसी देव को लक्ष्य कर श्वेताश्वतर ऋषि ने कहा था—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।।

यह ब्रह्मचक्र किसके बल पर घूम रहा है? कौन शक्तिशाली इसे निरन्तर घुमा रहा है? वह शक्ति न तो स्वभाव है और न काल। वस्तुतः यह पूषादेव ही है जिसकी महिमा से यह सृष्टिचक्र अनादि काल से घूम रहा है और अनन्त काल तक घूमता रहेगा। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए मन्त्र कहता है—हे देव पूषन्! तुम्हारा यह अनुशासन-चक्र कभी व्यथित नहीं होता, कभी पीड़ित नहीं होता, उसमें कभी व्याघात या बाधा नहीं आती, और न ही तुम्हारी कृपा, दया और अनुग्रह का कोश कभी रिक्त होता है। परमात्मा ने अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाले जीवों के प्रति अपनी दया और करुणा के जिस अपार कोश को खोल दिया है, क्या उसका कभी अन्त होगा? कदापि नहीं। परमात्मदेव की यह करुणा अशेष है, अखुट है। सत्य तो यह है कि उसकी अनन्त विद्या भी कभी नष्ट नहीं होती। ऐसे सर्वेश्वर देव के अनुशासन में रहकर ही हम उसकी कृपा को प्राप्त कर सकते हैं।

□□

[५५]

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम॥

—ऋ० ७/४१/४

देवता—**भगः** ; ऋषि—**वसिष्ठः**

ऋषि दयानन्द ने प्रत्येक मनुष्य को शैया-त्याग के समय ऋग्वेद के जिन पाँच मन्त्रों का अर्थसहित उच्चारण एवं चिन्तन करने का आदेश दिया है, उनमें उपर्युक्त मन्त्र चौथा है। शैया-त्याग करते समय हम जिन विचारों को लेकर अपनी दिनचर्या आरम्भ करेंगे, उनका प्रभाव हमारे दिनभर के कार्य-कलाप पर निश्चित पड़ेगा। अच्छे विचार और शुभभावनाएँ मनुष्य में प्रत्येक समय विद्यमान रहनी चाहिएँ। इसी अभिप्राय को मन्त्रगत प्रार्थना में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—हे भगवन्! आपकी कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग इस समय (इदानीं) उत्कर्ष, श्रेष्ठता तथा ऐश्वर्ययुक्त जीवन प्राप्त करें। दिन के मध्यभाग में भी हम इसी प्रकार की सफलता तथा उपलब्धियाँ प्राप्त करते रहें। हे मघवन्! (परम पूजनीय तथा अमित ऐश्वर्य-प्रदाता परमात्मन्), सूर्योदय के समय हम ऐश्वर्य को प्राप्त करें। वेदों में सुबुद्धि की प्रार्थना अनेकत्र आई है। इस प्रातःकालीन प्रार्थना में भी भक्त कहता है—हे परमात्मन्! आप ऐसी कृपा करें जिससे हम देवताओं, ज्ञानी जनों तथा विवेकशील लोगों की बुद्धि में रहें। आसुरी बुद्धि का तिरस्कार तथा देवबुद्धि की याचना वैदिक प्रार्थनाओं की एक ऐसी विशेषता है जो अन्य साम्प्रदायिक प्रार्थना-वाक्यों तथा पद्यों में सर्वथा दुर्लभ है। यहाँ बुद्धि को ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शक माना गया है।

□□

[५६]

उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्।
ज्धिया विप्रो अजायत॥ —ऋ० ८/६/२८

देवता—**भगः** ; ऋषि—**वत्सः काण्वः**

परमात्मा की उपासना के लिए यों तो सभी समय और स्थान उपयुक्त माने गए हैं, परन्तु मन की एकाग्रता और तल्लीनता की दृष्टि से शास्त्रकारों ने कुछ विधान भी किये हैं। प्रत्येक समय भगवान् का स्मरण करना उत्तम है, प्रशस्त है, किन्तु दोनों संध्याकाल (प्रातः और सायं) में यदि भगवत्-चिन्तन किया जाए तो वह सर्वथा उपयुक्त माना गया है। इसी प्रकार परमात्मा के ध्यान और उपासना के लिए प्रत्येक स्थान उत्तम है, किन्तु मन के अविलम्ब निग्रह तथा इन्द्रियों को विषयों से दूर ले-जाने की दृष्टि से शान्त-एकान्त स्थलों, पर्वतीय उपत्यकाओं तथा जलाशयों के तटवर्ती स्थानों की विशिष्ट उपयोगिता है। इसी भाव को प्रकट करनेवाला यह मन्त्र उपासक को आदिष्ट करता है कि पर्वतों के निकटवर्ती स्थानों तथा नदियों के संगम-स्थलों पर जाकर यदि हम मन के वशीकारपूर्वक ईश्वर-चिन्तन करें, तो हमें वह उत्तम धी (प्रज्ञा-बुद्धि) प्राप्त होगी जो हमें सामान्य धरातल से ऊँचा उठाकर विप्रों की श्रेणी में बिठा देगी। निघंटु के अनुसार **'विप्र इति मेधावी नाम'**—मेधावी पुरुषों की विप्र संज्ञा है। राजर्षि मनु ने निम्न श्लोक द्वारा इसी वैदिक तथ्य का समर्थन किया है—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥

जंगल में जाकर, किसी जलाशय के निकट बैठकर गायत्री का जप नित्य करना चाहिए।

□□

[५७]

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।

त्वं यज्ञेष्वीड्यः॥ —ऋ० ८/११/१

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**वत्सः काण्वः**

वेदों में अग्नि (परमात्मा) के साथ 'व्रत' शब्द प्रायः आया है। उसे 'व्रतपा'='व्रतों का पालक' कहा जाता है। यजुर्वेद (१/१५) में जहाँ अग्नि को व्रतपति कहा गया, वहाँ इस पद के व्याख्यान में ऋषि दयानन्द ने **'व्रतानां सत्यभाषणादीनां पतिः पालकः'** लिखकर बताया कि यह परमात्मा सत्य-भाषणादि धर्मों (व्रतों) का पालक तथा सत्य उपदेश करनेवाला है। प्रस्तुत मन्त्र में भी अग्नि को व्रतों का पालक कहा गया है। वह 'देव' है, क्योंकि वह दिव्य गुणों, कर्मों तथा बलों का भण्डार है। उसके गुण, कर्म तथा बल स्वाभाविक हैं, स्वोपार्जित हैं, इन्हें प्राप्त करने के लिए उसे किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा चाहता है कि वह स्वयं जिस प्रकार अपने व्रतों का पालन करता है, अपने नियमों के अनुकूल विश्वब्रह्माण्ड की रचना और पालन करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी स्वकर्मों को करे, वह उसी के आदर्श का अनुवर्तन करे। निश्चय ही जितने प्रकार के परोपकार के कर्म हैं, वे सभी यज्ञ कहलाते हैं। इन यज्ञों में सर्वत्र अग्नि की ही पूजा और सत्कार होता है। भौतिक द्रव्यों से सम्पादित यज्ञों का मुख्य देवता तो अग्नि है ही, अन्य भी सामाजिक हितों को सम्पादित करनेवाले जितने परोपकारयुक्त कार्य हैं, उनका प्रमुख देवता भी अग्नि ही है। परमात्मा के महान् उपकारों का स्मरण कर मनुष्य भी उनमें प्रवृत्त होता है।

□□

[५८]

त्वम॑सि प्र॒शस्यो॑ वि॒दथे॑षु सहन्त्य।
अग्ने॑ र॒थीर॑ध्व॒राणा॑म्॥ —ऋ० ८/११/२

देवता—**अग्निः** ; ऋषि—**वत्सः काण्वः**

मनुष्य को सर्वत्र परमात्मा की सहायता चाहिए। इसमें प्रमुख कारण यह है कि मानव स्वभाव से ही अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति और अल्पसामर्थ्यवाला है। उसका सदा यह प्रयास रहता है कि वह परमात्मा को अपना सहायक बनाए; जीवन-संघर्ष में जब-जब वह स्वयं को दुर्बल अनुभव करे, तब-तब परमपिता से सहायता की याचना करे। ऋषि दयानन्द ने 'प्रार्थना' पद की व्याख्या में भी यही लिखा है—मनुष्य को चाहिए कि अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ को करने के पश्चात् स्वकर्म की सिद्धि के लिए सहायता-हेतु परमात्मा को पुकारे। सच्ची प्रार्थना का यही स्वरूप है। प्रस्तुत मन्त्र में मनुष्य के सहायक उसी अग्नि का स्तवन करते हुए कहा गया है, "हे परमात्मन्! इस जीवनरूपी युद्ध में हमें नाना प्रकार की कठिनाइयों और क्लेशों का सामना करना पड़ता है, किन्तु आप ही हमारे सहायक बनकर हमारी स्तुति के पात्र बनते हो। अधिक क्या कहें! हमने स्वकल्याण तथा परहित के लिए जो नाना प्रकार के अध्वर=यज्ञ (हिंसारहित कार्य) संचालित किये हैं, उनका नेतृत्व भी हम आपको ही सौंपते हैं।" जैसे युद्ध में महारथी ही संग्राम का संचालन करता है, उसी प्रकार यज्ञकर्म का रथी भी अग्नि ही है।

□□

[५९]

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥ —ऋ० ८/९८/११

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**नृमेधः**

वेदों में परमात्मा को जीवात्मा के पिता और माता के रूप में स्मरण किया गया है। शरीर को जन्म देनेवाले संसारी माता-पिता चाहे कोई क्यों न हों, जीवात्मा को स्वकर्मानुसार मनुष्य के रूप में लानेवाला तो परमात्मा ही है। उसी वसु नामधारी परमात्मा का स्मरण कर उपासक उससे याचना करता हुआ कहता है—हे सबको बसानेवाले अथवा जड़-चेतन-जगत् में अपने सर्वव्यापकत्व के कारण बसे हुए वसो! आप हमारे पालनकर्त्ता होने से पिता हैं। आपको हम अपनी माता कहकर भी पुकारते हैं, क्योंकि माता को निर्माता कहा जाता है और आपने हमारे शरीर, मन, बुद्धि आदि का निर्माण किया है। जन्मदायिनी माता की ही भाँति आपका वात्सल्य हमें सदा से प्राप्त है। आपका एक नाम 'शतक्रतु' भी है, क्योंकि आप अनन्त प्रज्ञान तथा अनन्त कर्मोंवाले हैं। हम आपकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना वैदिक स्तोत्रों से करने के इच्छुक हैं। हम आपसे रक्षा की कामना करते हैं तथा सुख एवं आनन्द की प्राप्ति के लिए याचना करते हैं। वैदिक उपासना-पद्धति में जीव और ईश्वर के जिन सम्बन्धों को स्वीकार किया गया है उनमें परमात्मा को जीव का पिता और साथ ही माता भी कहा है। यों तो वह प्रभु हमारा गुरु, राजा, न्यायाधीश, बंधु तथा मित्र भी है, किन्तु जिस प्रकार सन्तान के प्रति माता-पिता का अनन्य स्नेह और वात्सल्य होता है, वह हमें परमात्मा ही प्रदान करता है।

□□

[६०]

**मा॒ता रु॒द्राणां॑ दुहि॒ता वसू॑नां॒ स्वसा॑दि॒त्याना॑म॒मृत॑स्य॒ नाभि॑: ।
प्र नु वो॑चं चिकि॒तुषे॒ जना॑य॒ मा गामना॑गा॒मदि॑तिं वधिष्ट ॥**

—ऋ० ८/१०१/१५

देवता—**गौ** ; ऋषि—**जमदग्निर्भार्गवः**

वैदिक संस्कृति में गाय की महिमा का सर्वत्र गान हुआ है। वेदों ने भी गाय की उपयोगिता को ध्यान में रखकर अनेक मन्त्रों में उसका प्रशस्ति-पाठ किया है। वस्तुतः गौ की उपयोगिता और उससे प्राप्त होनेवाले पदार्थों का लाभ सभी मनुष्य प्राप्त करते हैं। अथर्ववेद (१/३१/४) में गौओं के लिए कल्याण की कामना की गई है—**स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः**। प्रस्तुत मन्त्र में गाय को 'अनागाम्' अर्थात् निरपराध तथा 'अदिति'= अहन्तव्या—न मारने योग्य कहा गया है। आलंकारिक शैली में मन्त्र कहता है कि यह गाय रुद्र नामधारी ब्रह्मचारियों की माता है, वसु-संज्ञक ब्रह्मचारियों की पुत्री है तथा आदित्य-तुल्य तेजधारी तपस्वियों की बहिन है। आर्यसंस्कृति में पुत्री, बहिन और माता के रूप में नारी को अत्यन्त मान दिया गया है और गौ के प्रति भी हम ऐसा ही आदर और ममता का भाव रखते हैं। दुग्धादि रसपूर्ण पदार्थों का उत्पत्ति-स्थल होने के कारण इसे 'अमृत की नाभि' कहना तो उचित ही है। ऐसी स्थिति में यह कहाँ तक उचित है कि मनुष्य के लिए परम हितकारी गौ का वध किया जाए? वेदमन्त्र का द्रष्टा ऋषि मानो हमें चेताता हुआ कहता है कि हे बुद्धिमान् प्राणी! तू निरपराध तथा अहन्तव्या गाय को भूलकर भी मत मार। गौ आदि पशुओं की मानव-समाज के लिए उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर ही ऋषि दयानन्द ने 'गोकरुणानिधि' की रचना की थी और गौ, भैंस, बकरी आदि उपयोगी पशुओं के वध का निषेध किया था।

□□

[६१]

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः॥ —ऋ० ९/१/१

देवता—**पवमानः सोमः** ; ऋषि—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**

परमात्मा की प्राप्ति से होनेवाले परमानन्द को वेदों में सोम नाम से पुकारा गया है। सौम्य स्वभाववाले तथा भक्तों के लिए कल्याणकारी होने के कारण 'सोम' परमात्मा का भी वाचक है। जब उपासक स्व को भूल कर परमात्मा के ध्यान में निमग्न हो जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सोम नामक परमेश्वर से निकलनेवाली आध्यात्मिक आनन्द की धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। ईश्वरानुभूति की ये सौम्य, सुखकर तथा आनन्दोत्पादक धाराएँ माधुर्ययुक्त, उल्लासमयी तथा उपासक को मस्ती प्रदान करनेवाली हैं। इस आनन्दस्रोत में गोता लगाने से भक्त का भीतर और बाहर प्रोज्ज्वल, पावन, निष्कलुष तथा निर्मल बनता है। वस्तुतः सोम की ये धाराएँ इन्द्ररूपी जीवात्मा के लिए ही प्रकट हो रही हैं। यह भक्तिरस अविरल बहकर भक्त की रक्षा करता है। उसे दुरितों, अनिष्टों तथा पापों से दूर रखता है। पाश्चात्य विचारकों ने तो सोम को भाँग के तुल्य कोई नशीली वनस्पति मान लिया और यहाँ तक लिख दिया कि वैदिक ऋषि इसी नशीली वस्तु का सेवन कर जो कुछ अनर्गल कह बैठते थे, वही कालान्तर में वेदों की ऋचाएँ बन गईं। वस्तुतः यह पाश्चात्यों के उथले ज्ञान की अभिव्यक्ति थी। निश्चय ही सोम नाम की कोई वनस्पति भी थी, किन्तु वेदमन्त्रों में सोम को आध्यात्मिक आनन्द तथा परमात्मा के अनुभव की रसमयी अनुभूति के रूप में वर्णित किया गया है। 'सोम' परमात्मा का भी एक नाम है।

□□

[६२]

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥ —ऋ० १०/९/४

देवता—**आपः** ; ऋषि—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**
सिंधुद्वीप आम्बरीषः

दैनिक संध्योपासना के आरम्भ में जल से तीन बार आचमन करने के कृत्य में ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का विनियोग किया है। यजुर्वेद (३६/१२) में इसी मन्त्र की व्याख्या में स्वामीजी इसका जलपरक अर्थ करते हैं। मन्त्र का देवता 'आपः' जल के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। पञ्चमहायज्ञविधि में संध्या की विधि लिखते समय ऋषि इसका आध्यात्मिक—ईश्वरपरक अर्थ करते हैं। यहाँ उन्होंने 'आपः' का परमात्मा अर्थ किया और परमेश्वर को सर्वप्रकाशक, सर्वानन्दप्रद, सर्वव्यापक कहा है। 'आपः' का ईश्वरपरक अर्थ करते हुए वे अथर्ववेद के मन्त्र (१०/७/१०) **'यत्र लोकांश्च कोशांश्चापः'** का प्रमाण देते हैं। संध्या करनेवाला उपासक आपः—रूप परमेश्वर से निवेदन करता है—आप मनोवांछित आनन्द और पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिए हमारे लिए कल्याणप्रद हों। आप हमपर सुखों की वर्षा करें। संध्या के आरम्भ में जल से आचमन करने की क्रिया में इस मन्त्र को विनियुक्त कर ऋषि दयानन्द ने कर्मकाण्ड में मन्त्रों के सार्थक और रूपसमृद्ध विनियोग का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है, जबकि पौराणिक—काल में इस मन्त्र को शनैश्चर नामक सुदूरवर्ती ग्रह की पूजा में विनियुक्त किया। वस्तुतः मन्त्र में 'शनैश्चर' पद तो विद्यमान है ही नहीं। वहाँ आया 'शं' पद शान्ति और कल्याण का वाचक है, जबकि 'नः' 'हमारे लिए' प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार जल शरीर को शान्ति और स्वस्ति देता है, उसी प्रकार आपः (परमात्मा) हमें आत्मिक शान्ति प्रदान करता है।

□□

[६३]

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।

यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ —ऋ० १०/१४/१३

देवता—**यमः** ; ऋषि—**वैवस्वतो यमः**

सामान्यतया यम को मृत्यु का देवता माना जाता है। पुराणों में उसका वर्णन एक ऐसे काले, भयंकर, दैत्याकार देवता के रूप में मिलता है, जो भैंसे पर सवारी करता है तथा जिसके हाथ में पाश और दण्ड सदा रहते हैं। ऋषि दयानन्द यम को परमात्मा का ही नाम मानते हैं और उसके अर्थ का विचार करते हुए लिखते हैं—"यमु उपरमे" इस धातु से यम शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः'**—जो सब प्राणियों को कर्मफल देने की व्यवस्था करता है और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसलिए परमात्मा का नाम यम है।" उस यम नामवाले परमात्मा के लिए हम अपना भक्तिरूप सोमरस तैयार करें। उसी परमपिता संसार का नियमन करनेवाले तथा उसे अपने अनुशासन में चलानेवाले, प्राणिमात्र को उनके कर्मानुसार फल देनेवाले यम के लिए हम अपनी हवि (श्रद्धा) प्रदान करते हैं। ऋषि दयानन्द ने हवि के निम्न अर्थ किये हैं—'आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति करना, अपनी सकल उत्तम सामग्री को उसकी आज्ञापालन में समर्पित करना, सब सामर्थ्य से उसकी विशेष भक्ति करना, योगाभ्यास और अति प्रेम से विशेष भक्ति करना।' यही यम को अपनी हवि अर्पित करना है। वस्तुतः अग्निहोत्र का सम्पादन कर हम जो यज्ञ करते हैं, वह भी उस यमरूपी परमात्मा को ही प्राप्त होता है। यज्ञ परोपकार और ईश्वरभक्ति के लिए किया जाता है तो उसका यमरूपी परमात्मा तक पहुँचना सुनिश्चित ही है।

□□

[६४]

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥

—ऋ० १०/१७/७

देवता—**सरस्वती** ; ऋषि—**यामायनो देवश्रवाः**

पौराणिक काल में सरस्वती को विद्या की अधिष्ठात्री देवी माना गया और उसे वीणा-पुस्तक-धारिणी, शुक्ल वस्त्रावृता, हंसवाहिनी देवी के रूप में कल्पित किया। वस्तुतः सरस्वती भी परमात्मा के अनेक नामों में से एक नाम है। ऋषि दयानन्द ने इस सम्बन्ध में लिखा है—'**सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चित्तौ सा सरस्वती**', अर्थात् जिसको विविध विज्ञान, अर्थात् शब्द-अर्थ-सम्बन्ध-प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वर का नाम 'सरस्वती' है। उसी परमात्मा को वेदों में सरस्वती कहकर वर्णित किया गया है। यही मनुष्य में वाणीरूप में प्रकट होती है। मन्त्र में कहा गया है कि जो लोग ज्ञान-विज्ञान को जाननेवाले देवों (विद्वानों) को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें परमज्ञान वेद के अधिष्ठाता परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। जब याजकगण नाना प्रकार के यज्ञों का विस्तार करते हैं अथवा मन में ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित कर अध्यात्मयज्ञ का सम्पादन करते हैं, तब भी वे सरस्वतीरूपी उस परमात्मा का ही ध्यान और निदिध्यासन करते हैं। निश्चय ही पुण्यकर्मा लोग ज्ञान की अधिष्ठात्री उस सरस्वती देवी का आह्वान करते हैं, जो मनुष्य की प्रज्ञा को जाग्रत् कर उसे अध्यात्म के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। मन्त्र का फलितार्थ यही है कि देवों की कोटि में जाने के लिए, यज्ञ में सफलता प्राप्त करने के लिए तथा जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करने के लिए हमें सरस्वती का आह्वान करना चाहिए।

□□

[६५]

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥

—ऋ० १०/१८/१

देवता—**मृत्युः** ; ऋषि—**यामायनः सङ्कुसुकः**

शरीररूप में मनुष्य की मृत्यु अवश्यम्भावी है, अतः उससे भयभीत होने का कोई भी कारण नहीं है। गीता में कृष्णजी कहते हैं—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

जो अनिवार्य है, अपरिहार्य है, उस मृत्यु से हम भयभीत क्यों हों? मृत्यु के पश्चात् जीव की दो गतियाँ बताई गई हैं—देवयान और पितृयान। सामान्य जन मरकर अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जाते हैं तथा अन्य माता-पिताओं को प्राप्त होते हैं। जिसने श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार के द्वारा परमात्मा को जान लिया, वह देवयान-मार्ग को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। प्रस्तुत मन्त्र में मुमुक्षु पुरुष उसी मृत्यु को सम्बोधन कर कहता है—"हे शरीर से जीव को पृथक् करनेवाले मृत्यु देवता! तेरा रास्ता भिन्न है, तू उसी मार्ग पर जा। हम मुमुक्षु=मोक्षकामी लोगों का रास्ता तो देवयान है जो हमें **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्'** के चक्र से छुड़ाकर अमृतमय मोक्ष की ओर ले-जाता है। हम जो देखने और सुनने का सामर्थ्य रखते हैं, वे तुझे स्पष्ट कहते हैं कि तू हमारी इन्द्रियरूपी प्रजा तथा प्राणरूपी वीरों का नाश मत कर। शतपथ में **'प्राणा वै वीराः'** कहा गया है। देवयान-मार्ग से जानेवाले मुमुक्षुजनों की इन्द्रियों में न तो शिथिलता ही आती है और न उनके प्राण ही दुर्बल होते हैं।

[६६]

मूषो न शिश्ना व्यंदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो।
सकृत् सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाऽधा पितेवं नो भव॥

—ऋ० १०/३३/३

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**कवष ऐलूषः**

इन्द्रियजन्य विषयों और व्यसनों ने मनुष्य की गति को चूहे से भी बदतर बना दिया है। जिस प्रकार चूहा अन्नादि पदार्थों का अतिमात्रा में भक्षण कर अपनी पूँछ को ही खाने लगता है, उसी प्रकार वासनाओं से लिप्त मनुष्य भी इन्द्रियजन्य सुखों की तृप्ति में लगकर खुद को ही खाने लगता है। वस्तुतः मनुष्य की मानसिक वासनाएँ उसे क्षणभर के लिए भी चैन नहीं लेने देतीं। जब वासना-लिप्त मनुष्य को अपनी बाह्य कामनाओं को पूरा करने का अवसर नहीं मिलता तो वह मन-ही-मन उनका चिन्तन कर अपने-आपको वासनाकुल बना लेता है। ऐसी दशा में संसारी वासनाओं से सताया गया वह प्राणी शतक्रतु (अनन्त प्रज्ञावान्) इन्द्र=परमात्मा से प्रार्थना कर कहता है—"हे भगवन्! मेरी दशा तो खुद के अंगों को खा जानेवाले मूषक से भी अधिक दयनीय हो गई है। मैं आपकी स्तुति करनेवाला स्तोता हूँ, भक्त हूँ। आप मुझे इस दुर्दशा से उबारिए। हे मघवन्=ऐश्वर्यवान् इन्द्र! एक बार तो हमें मोक्ष प्राप्त करा, हमपर कृपा कर, हमारे प्रति दयालु बन। निश्चय ही तू हमारा पिता है। सन्तान की समस्त आशाएँ पिता से ही होती हैं।" जब हमने परमात्मा को अपना पिता मान लिया तो हमारा यह विश्वास और अधिक दृढ़ हो जाता है कि अब हमारा कल्याण सुनिश्चित है। अपनी कृपा और दया की वृष्टि करनेवाला, अनेक दिव्य कर्मों और विज्ञानों का स्वामी शतक्रतु तथा मघवन् हमारे योगक्षेम का वहन करेगा और हमारी सद्गति को भी सुनिश्चित करेगा।

□□

[६७]

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

—ऋ० १०/३४/१३

देवता—**अक्ष-निन्दा** ; ऋषि—**कवष ऐलूषः**
अक्षो भौजवान् वा

मनुष्य ने अपने ही विनाश के नाना उपाय ढूँढ निकाले हैं। विषयों का सेवन उनमें प्रमुख है और इन विषयों में प्रमुख है जुआ खेलना। परमात्मा का वेदरूपी उपदेश मनुष्य को पतन के गहन गड्ढे से निकालकर सुपथ पर ले-चलनेवाला है। ऋग्वेद के इस प्रसिद्ध अक्षसूक्त में द्यूत-क्रीड़ा की निन्दा की गई है। भारतीय इतिहास में राजा नल तथा युधिष्ठिर आदि राजाओं के दृष्टान्त मिलते हैं, जिन्होंने ज़िद करके जुआ खेला और अपने सर्वनाश को आमन्त्रण दिया। निश्चय ही मनुष्य के आर्थिक, पारिवारिक और नैतिक विनाश के लिए द्यूतक्रीड़ा को ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है। जुए के द्वारा लाए जानेवाले सर्वनाश का यथार्थ वर्णन कर मनुष्य का परम हितेच्छु परमात्मा कहता है—"हे अक्ष, क्रीड़ा में लिप्त मनुष्य! तू भविष्य में कभी जुए के चक्कर में मत पड़ना। कृषक बनकर खेती कर, धरती में अन्न के दाने बोकर उनसे अमित लाभ प्राप्त कर। इस कृषि के द्वारा ही तुझे अनन्त ऐश्वर्य और धन की प्राप्ति होगी। तेरी गौओं की संख्या बढ़ेगी। तेरी पत्नी भी तुझसे अनुकूल और प्रसन्न रहेगी।" वस्तुतः यह उपदेश तो सर्वोत्पादक सविता देव का ही है। वही ऋषियों के माध्यम से हम तक वेदों के ज्ञान का प्रसार करते हैं। यह वैदिक उपदेश हमें द्यूतक्रीड़ा से विरत कर उपयोगी कृषिकर्म से जोड़ता है।

□□

[६८]

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

—ऋ० १०/५३/८

देवता—**सौचीकोऽग्निः** ; ऋषि—**देवाः**

भवसागर को आप नदी कहें या सागर, बात एक ही है। जीवात्माओं के लिए इस दुस्तर सागर को भगवद्भक्ति की नौका के बिना पार करना कठिन है। वेद ने इसे पत्थरों से भरी हुई एक नदी की उपमा दी है। ये कठोर पाषाण जो आदमी के पैरों को क्षत-विक्षत कर देते हैं, विषय-वासनारूपी हैं। इस भव-नदी का वेग भी अत्यन्त प्रबल है जिसपर नियन्त्रण कर पाना अत्यन्त कठिन है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि वेद के स्वाध्यायशील जनों से अभिमुख होकर कहता है—"हे मित्रो! देखो, विषयवासनारूपी तीक्ष्ण पाषाण-खण्डों से परिपूर्ण यह संसाररूपी नदी अत्यन्त वेग से बह रही है। इससे पार जाने के लिए उठो, जागो और सावधानी से इसे पार करो।" उपनिषदों ने भी वेद के उपर्युक्त स्वर में स्वर मिलाकर कहा था— **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।** निश्चय ही तुममें जो अकल्याणकारी दोष हैं, उन्हें यहीं पर छोड़ दो। यदि पापों की गठरी सिर पर उठाकर संसार-नदी को पार करना चाहते हो तो यह सर्वथा दुष्कर ही है। इसके विपरीत ज्ञान, वैराग्य, तप, त्याग, भगवद्भक्ति आदि जो कल्याणकारी मार्ग हैं, उन्हें अपनाओगे तो निश्चय ही ये तुम्हारे लिए नौका-तुल्य हो जाएँगे और इस पुण्यकर्मरूपी नाव से तुम इस भवनदी को पार कर सकोगे। दुस्तर संसाररूपी नदी को पार करने के लिए भक्तिरूपी नौका से अधिक विश्वसनीय साधन और क्या हो सकता है?

□□

[६९]

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥

—ऋ० १०/६३/१०

देवता—**विश्वे देवाः** ; ऋषि—**गयः प्लातः**

पूर्व-मन्त्र ने जहाँ संसार को पत्थरों से परिपूर्ण नदी की उपमा दी, वहाँ प्रस्तुत मन्त्र में उस भवनदी के पार जाने के लिए अभीष्ट नौका का वर्णन किया गया है। निश्चय ही मनुष्य कल्याण का इच्छुक है। वह संसार में जन्म लेकर अपने अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करना चाहता है तथा दुरितों, दुःखों और दुर्व्यसनों से अपना बचाव करना चाहता है। इसके लिए उसे दिव्य नौका पर आरूढ़ होना चाहिए। यह दैवी नौका वही है जिसमें कृष्ण-वर्णित दैवी सम्पदाओं (अभय, जीवन की शुद्धि, ज्ञानयोग में स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुग़ली न करना, प्राणियों के प्रति दया, लालच का अभाव, कोमलता, लज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, किसी से वैर न करना, गर्व न करना) का निवास है। यही नाव हमें सुखपूर्वक संसार से पार ले-जानेवाली है (सुत्रामाणम्), पृथिवी के तुल्य विशाल तथा ज्ञान से दीप्त है, इसमें पाप का लेशमात्र भी नहीं है, यह अत्यन्त सुखरूप (सुशर्माणम्) है, अखण्डित (अदितिम्) है, सुन्दर रचनावाली है तथा शोभन चप्पुओं-(अरित्रों)-वाली है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें चारित्रिक स्खलनरूपी कोई छिद्र नहीं है, अतः यह सर्वथा दृढ़ है। भला इस दैवी नौका पर कौन चढ़ना नहीं चाहेगा? सामान्य नौकाएँ भले ही जलाशय के तल में समा जाएँ, परन्तु दिव्य गुणों की आगार हमारी शरीररूपी नौका ही हमें भवनदी से पार ले-जाने में समर्थ है।

□□

[७०]

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒ यत्प्रैर॑त नाम॒धेयं॒ दधा॑नाः।
यदे॑षां॒ श्रेष्ठं॒ यद॑रि॒प्रमासी॑त् प्रे॒णा तदे॑षां॒ निहि॑तं॒ गुहा॒विः॥

—ऋ० १०/७१/१

देवता—**ज्ञानम्** ; ऋषि—**बृहस्पतिरांगिरसः**

सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को वेद का ज्ञान बृहस्पति नामवाले परमात्मा से प्राप्त होता है, यही इस मन्त्र में बतलाया गया है। सत्यार्थप्रकाश में बृहस्पति शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"**यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः**— जो बड़ों से भी बड़ा और आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है, इससे उस परमेश्वर का नाम बृहस्पति है।" वाणी का पति होने से भी परमात्मा की बृहस्पति संज्ञा है। सृष्टि के आरम्भ में वेद की श्रेष्ठ वाणी, जिससे समस्त जीवजगत् के व्यवहार का ज्ञान होता है, उस वेदवाणी को धारण करनेवाला बृहस्पति इसी वैदिक ज्ञान को ऋषियों के हृदय में प्रेरित करता है। तत्पश्चात् इन आद्य ऋषियों द्वारा ऋगादि चारों वेदों को संसार के अन्य मनुष्यों तक पहुँचाना भी एक श्रेष्ठ कार्य है, जिसे वे लोकमंगल की भावना से करते हैं। परमात्मा की प्रेरणा से वेद का ज्ञान अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा नामवाले ऋषियों को प्राप्त होता है और उसके बाद वह लोक में सर्वत्र प्रचारित होता है। मन्त्र का मुख्य भाव यह है कि वेद का स्वामी परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में आदि-ऋषियों के पवित्र अन्तःकरण में उन वेदों का प्रकाश करता है जो पदार्थमात्र के गुण तथा स्वरूप को बतलाते हैं। इसी ज्ञान को गुरु-शिष्य की परम्परा के अनुसार ब्रह्मादि ऋषि प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वह संसार के सभी जिज्ञासु जनों तक पहुँचता है। वेदों का यह शाश्वत ज्ञान आज भी हमारा पथप्रदर्शक बना हुआ है।

□□

[७१]

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

—ऋ० १०/७१/२

देवता—**ज्ञानम्** ; ऋषि—**बृहस्पतिरांगिरसः**

ऋषियों का ज्ञान सामान्य जनों के ज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है। वे जिस वाणी का प्रयोग करते हैं वह भली प्रकार शोधित, संस्कारित तथा परिष्कृत होती है। हिन्दी के किसी नीतिकार कवि ने कहा है—

ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय॥

निश्चय ही ऋषिगण अपनी वाणी का शोधन करते हैं, उसी प्रकार जैसे चलनी में छानकर सत्तू को साफ़ किया जाता है। बुद्धिमान् और मननशील विद्वान् इसी रीति से जब स्वच्छ वाणी का प्रयोग करते हैं तो अन्य हितैषी विद्वान् उन ऋषियों द्वारा कही गई हितकारी बातों को भली-भाँति समझ जाते हैं और तद्रूप अनुभव और आचरण भी करते हैं। सच पूछा जाए तो ऐसे ही सत्यवाक् ऋषियों की वाणी में कल्याणदायिनी लक्ष्मी का निवास होता है। 'लक्ष्मी' जहाँ ज्ञानरूपी सम्पत्ति की द्योतक है, वहाँ यह पद परमात्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है। परम ऋषि तो वाणी को भली-भाँति शोधकर अपने भीतर धारण करते हैं। वाणी के यथार्थ ज्ञान के साथ उनकी तन्मयता हो जाती है। इसी कारण उनकी वाणी श्रोताजनों को श्री, लक्ष्मी, ऐश्वर्य, शोभा तथा नाना गुणोंवाली आध्यात्मिक सम्पत्ति को धारण कराती है। लौकिक लक्ष्मी (द्रव्यरूपा सम्पत्ति) से तो अनर्थ भी सम्भव हैं, किन्तु लोकहित में निरत ऋषिगणों की वाणीरूपी लक्ष्मी स्वयं तथा अन्यों के लिए भद्र ही होती है।

□□

[७२]

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

—ऋ० १०/७१/४

देवता—**ज्ञानम्** ; ऋषि—**बृहस्पतिरांगिरसः**

परमात्मा का दिव्य वैदिक ज्ञान वाणी के माध्यम से मनुष्यों को प्राप्त होता है, किन्तु इसे अधिगत करना क्या सहज या सरल है? कदाचित् नहीं। यों हम लिपिबद्ध वेदमन्त्रों को देख लेते हैं, किन्तु क्या सचमुच मन्त्रगत रहस्य को जानते हैं? नहीं। इसी प्रकार गुरुमुख से भी मन्त्रों को सुनते हैं, किन्तु क्या उसे सम्यक्-रूपेण हृदयंगम कर सकते हैं? ऐसा भी नहीं होता। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि न तो लिपिरूप में वेदवाणी को पढ़कर और न ही उसे गुरुमुख से सुनकर उसका रहस्य अधिगत होता है। मन्त्र का अभिप्राय तो उसके अर्थज्ञान से ही अवगत होता है और यह कार्य परिश्रमसाध्य है। मन्त्रों के अभिप्राय को जाननेवाले ज्ञानी जनों के लिए तो वेदवाणी अपने रहस्यों को उसी प्रकार प्रकट कर देती है, जैसे सती स्त्री ऋतु-निवृत्ति के पश्चात् पति की कामनावाली होकर स्वयं ही अपने शरीर का प्रकाश करती है। लौकिक उपमा देकर मन्त्र ने यह स्पष्ट किया है कि स्थितिविशेष में जैसे अपनी पत्नी के पूर्ण शरीर को देखने का अधिकारी केवल उसका पति ही होता है, इसी प्रकार विधिपूर्वक वेदार्थ को जाननेवाला विद्वान् ही वेदवाणी के समग्र स्वरूप को देख पाता है। न तो केवल वेदपुस्तक के पाठमात्र से और न उन मन्त्रों को सुनने से मन्त्रगत रहस्य का ज्ञान होता है।

□□

[७३]

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥

—ऋ० १०/७१/११

देवता—**ज्ञानम्** ; ऋषि—**बृहस्पतिरांगिरसः**

यज्ञ के सम्पादन में मुख्य रूप से चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। इनके नाम हैं—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। प्रस्तुत वेदमन्त्र में इन्हीं चारों के इति-कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इनमें जो प्रथम 'होता' नाम का ऋत्विक् है वह ऋचाओं (ऋग्वेदीय मन्त्र) की पुष्टि करता हुआ बैठता है, अर्थात् ऋग्वेद के मन्त्रों का अर्थ-विचारपूर्वक पाठ करता है। एक अन्य ऋत्विक् 'उद्गाता' है जो सामवेद का मर्मज्ञ है। यह शाक्वरी छंद में आए साममन्त्रों का विधिपूर्वक गान करता है। सामगान की प्राचीन आर्षविद्या प्रायशः लुप्त हो गई है। ऋषि दयानन्द ने प्रत्येक संस्कार तथा अन्य मांगलिक कृत्यों की समाप्ति पर सामवेद के महावामदेव्यगान का विधान किया है और तत्सम्बद्ध तीन मन्त्र भी लिखे हैं। यज्ञ का मुख्य अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' है जो चतुर्वेदवित् तो होता ही है, यज्ञ में आनेवाली किसी न्यूनता तथा त्रुटि का निराकरण कर अपनी व्यवस्था देता है। वह तभी बोलता है, जब उसे यज्ञविधि में किसी कारण हस्तक्षेप करना होता है। एक अन्य जो यजुर्वेद के कर्मकाण्डीय विधान का विशेषज्ञ है, 'अध्वर्यु' संज्ञावाला है, जो समस्त याज्ञिक विधियों को भली प्रकार सम्पन्न करवाता है। इस प्रकार के योग्य ऋत्विजों के द्वारा किये जानेवाले तथा करवाए जानेवाले यज्ञ ही यजमान को सफलता देते हैं तथा उसके योगक्षेम का साधन सिद्ध होते हैं।

□□

[७४]

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥

—ऋ० १०/८२/३

देवता—**विश्वकर्मा** ; ऋषि—**भौवनो विश्वकर्माः**

इस मन्त्र का देवता संसार का रचयिता परमात्मा है, जो इस सूक्त में 'विश्वकर्मा' नाम से पुकारा गया है। उसी विश्व के रचयिता परमात्मा का स्मरण करता हुआ मन्त्र का द्रष्टा ऋषि (वह भी भुवन का पुत्र विश्वकर्मा नामवाला ही है) कहता है कि वह परमात्मा ही हमारा उत्पन्न करनेवाला तथा पालन करनेवाला है, वही हमारे शुभाशुभ कर्मों का फल देनेवाला विधाता है। यहाँ परमपिता को उत्पादक तथा विधाता कहा गया है। जीवों को शरीर प्रदान कर उत्पन्न करनेवाला तथा यथोचित कर्मफल-प्रदाता होने के कारण वह ईश्वर 'जनिता' तथा 'विधाता' नामवाला है। वह सम्पूर्ण लोकों को जाननेवाला है। ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत कोई ऐसा भुवन—लोक-लोकान्तर नहीं है जिसका ज्ञान उसके रचयिता को न हो। संसार के अन्य दिव्य गुण-कर्मवाले देवों (दिव्य शक्तियों तथा पदार्थों) को नाम देनेवाला भी वही परमात्मा है। परमात्मा के एकत्व की पुष्टि इस मन्त्र के प्रत्येक पद से होती है। संसार के जिज्ञासु और मुमुक्षु लोग बार-बार उस परमात्मा के लिए ही प्रश्न करते हैं, पूछते हैं और जिज्ञासा करते हैं। परमात्मदेव के प्रति भक्तजनों की यह जिज्ञासा ही केनोपनिषद् (१/१) में **'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'** तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् (१/१) में **'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता'** आदि प्रश्नात्मक वाक्यों में प्रकट हुई है। निश्चय ही समस्त जीव तथा लोक उसी के शरणागत हैं, उसके आश्रय में ही रहते हैं।

□□

[७५]

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥

—ऋ० १०/८५/१

देवता—**सोमः** ; ऋषि—**सावित्री सूर्या ऋषिका**

आलोच्य मन्त्र जहाँ पृथिवी, द्यौ तथा अन्तरिक्ष लोकों की स्थिति कैसे सम्भव हुई है, इसपर प्रकाश डालता है, वहाँ इस मन्त्र से आरम्भ होनेवाले सूक्त में आदर्श विवाह की पूर्वपीठिका को भी दर्शाया गया है। मन्त्र का कथन है कि यह धरती सत्य पर टिकी हुई है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त के प्रथम मन्त्र में भी जहाँ पृथिवी को धारण करनेवाले सात तत्त्वों को गिनाया गया है, उनमें सत्य को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। सत्याचार और सत्य का अनुष्ठान ही गर्भधारण करनेवाली भूमिरूपी माता के मातृत्व का आधार बनता है। द्युलोक को प्रकाशयुक्त बनानेवाला सूर्य है, किन्तु आकाशगंगा में ऐसे अनन्त सूर्य हैं। सच पूछा जाए तो ये ग्रह, नक्षत्र और तारे, सौरमण्डल के सभी पिण्ड, यहाँ तक कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही परमात्मा के सत्य नियमों (जिसे वेद में ऋत कहा गया है) द्वारा धारण किया गया है। मन्त्रस्थ 'आदित्य' किरणों का वाचक है। बहुवचन में प्रयुक्त आदित्य (प्रकाशप्रदायिनी किरणें) परमात्मा के नियमों के कारण अधिष्ठित हैं। अन्तरिक्ष लोक सौम्य गुणोंवाले सोम नामक परमात्मा पर आश्रित है, अथवा सोम गुणवाले पदार्थ अन्तरिक्षस्थ पदार्थों से अपना अस्तित्व धारण करते हैं। वेद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अथवा सृष्टिचक्र के संचालक के एक-एक चेतन तत्त्व की सत्ता स्वीकार करता है, जिसे परमात्मा नाम से पुकारा जाता है। यह ईश्वर ही अपने ऋत और सत्य (नियम और अनुशासन) के द्वारा संसार का धारण, पोषण और संहार करता है।

□□
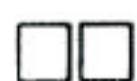
[७६]

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥

—ऋ० १०/८५/३

देवता—**सोमः** ; ऋषि—**सावित्री सूर्या ऋषिका**

साधारणतया सोम को एक ओषधि माना जाता है जो अब सर्वथा दुर्लभ हो चुकी है। वेदों पर श्रम करनेवाले पाश्चात्य विद्वानों ने सोम को एक नशीली लता से उत्पन्न रस बताया है। सोम के आध्यात्मिक अर्थ भी भाष्यकारों ने किये हैं। आचार्य यास्क ने सोम को ओषधि तथा चन्द्रमा के अर्थ में लिया है। जब आध्यात्मिक अर्थ में सोम का प्रयोग होता है तो वहाँ वह स्वयं परमात्मा तथा ईश्वरभक्ति से प्राप्त होनेवाले आनन्दरस का प्रतीक बन जाता है। प्रस्तुत मन्त्र का भाव भी यही है कि साधारण याज्ञिक तो यही समझता है कि मैंने सोमलता से प्राप्त रस का ही पान किया है, क्योंकि ओषधि-(या वनस्पति)-रूप में प्राप्त सोमलता को कूट-पीस-छानकर याज्ञिकगण सोमरस तैयार करते हैं तथा यज्ञान्त में उसका पान करते हैं। मन्त्र कहता है कि ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणगण जिस सोम नामक परमात्मा को जानते हैं, उसे तो कोई व्यक्ति वनस्पति या उससे प्राप्त होनेवाले रस की भाँति न तो खा सकता है और न पी ही सकता है। वास्तव में प्रभुभक्ति से प्राप्त वह आनन्दरूपी सोमरस तो आत्मा द्वारा अनुभव करने की चीज है। अथर्ववेद (१४/१/३) में यही मन्त्र स्वल्प पाठभेद के साथ आया है। वहाँ 'कश्चन' के स्थान पर 'पार्थिवः' पाठ है, जो सांसारिक भोगों का प्रतीक है। सत्य तो यह है कि परमात्मा की भक्ति के रस को पीकर ही मनुष्य अमर हो जाता है।

□□

[७७]

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥

—ऋ० १०/८८/१५

देवता—**सूर्यवैश्वानरः** ; ऋषि—**आंगिरसो मूर्धन्वान्, वामदेव्यो वा**

मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की क्या गति होती है? वह किस प्रकार नई योनि में जन्म लेता है अथवा जीवन-मरण के द्वन्द्व से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त करता है? इन प्रश्नों के उत्तर वैदिक शास्त्रों में सर्वत्र मिलते हैं। इस संसार को त्यागकर मनुष्य देवयान या पितृयान इन दोनों मार्गों में से एक को प्राप्त करता है। कठोपनिषद् (१/२/२) में इन्हें श्रेयमार्ग और प्रेयमार्ग कहा गया है। गीता में भी शुक्ल और कृष्णगति कहकर इन्हीं दो का उल्लेख अध्याय ९ में मिलता है। मन्त्र स्पष्ट कहता है कि मरणधर्मा मनुष्यों की दो गतियों के बारे में हम सुनते हैं। एक पितरों का मार्ग है, दूसरा जीवन्मुक्त देवों का है। इन्हीं दो में से एक को यह जीव मृत्यु के पश्चात् चुनता है। सामान्य रीति से जिसने अपना जीवन जिया है वह अपने कर्मों के अनुसार किसी-न-किसी योनि को प्राप्त कर पुनर्जन्म लेता है, किन्तु जिसने श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार की रीति से भगवच्चिन्तन में सारा जीवन व्यतीत किया है, जिसने अष्टांगयोग की साधना कर निर्विकल्प समाधि का आनन्द प्राप्त किया है, वह इस शरीर को त्यागने के पश्चात् मोक्ष का अधिकारी बनता है। यही देवयान है। इस मोक्ष-अवस्था का वर्णन करते हुए कठ ऋषि ने कहा—इस स्थिति में हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। मन के सारे संशय समाप्त हो जाते हैं। कर्म-बन्धन से मुक्त होकर मुमुक्षु पुरुष सच्चिदानन्द लक्षणवाले परमात्मा को प्राप्त होता है।

□□

[७८]

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

—ऋ० १०/९०/३

देवता—**पुरुषः** ; ऋषि—**नारायणः**

यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में पुरुष नामवाले परमात्मा का बहुविध वर्णन आया है। वही विषय ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ९०वें सूक्त के १६ मन्त्रों में भी वर्णित हुआ है। समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान परमात्मा की महिमा को यदि हम जानना चाहें तो इस दृश्यादृश्य जगत् को सूक्ष्म रीति से देखना ही पर्याप्त है। विभिन्न लोक-लोकान्तरवाले इस ब्रह्माण्ड को देखकर उसके रचयिता परमात्मा की कल्पना करना, उसके महत्त्व, महिमा तथा माहात्म्य का अनुमान करना कठिन नहीं है। किन्तु क्या सचमुच वह परमात्मा ब्रह्माण्ड जितना ही है? चाहे हम अपनी अल्पबुद्धि के कारण समग्र ब्रह्माण्ड की इयत्ता को जानने में समर्थ न हों, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह परमपुरुष तो उस सीमित ब्रह्माण्ड से भी बड़ा है। यह सारा जड़-जंगम-जगत् उस ईश्वर का एक पाद (अंश) मात्र है। देखा जाए तो इस ब्रह्माण्ड को पूर्ण पुरुष का चतुर्थांश मात्र कहा जा सकता है। यद्यपि ईश्वर के अंशों या भागों की कल्पना करना भी न्याय्य नहीं है, किन्तु समझाने के लिए ही यह कल्पना शास्त्रों में की गई है। उस अविनाशी परमात्मा का त्रिपादात्मक रूप तो उसका प्रकाशमय अमृतस्वरूप ही है जिसमें वह स्वमहिमा से सदा विद्यमान रहता है। समस्त संसार परमात्मा के एक देश में स्थित है, जबकि उसके अवशिष्ट तीन अंश सच्चिदानन्दादि लक्षणान्वित अमृतरूप ही हैं।

□□

[७९]

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

—ऋ० १०/११७/६

देवता—**धनान्नदानम्** ; ऋषि—**भिक्षुरांगिरसः**

आलोच्य मन्त्र के देवता का निर्देश ही उसके कथ्य या विषय का संकेत दे देता है। यहाँ अन्न-धन-दान की प्रशंसा की गई है। यों तो सभी प्रकार के दान प्रशंसनीय हैं, किन्तु भूखे प्राणी को अन्न देने से बढ़कर दान और क्या हो सकता है? भारतीय इतिहास में शिवि और रन्तिदेव-जैसे राजाओं की ख्याति इसी कारण हुई, क्योंकि उन्होंने स्वयं भूखे रहकर भिक्षार्थी का अन्न से सत्कार किया था। वास्तव में अन्न के संग्रह की सार्थकता भी तभी है जब अन्न के इच्छुक प्राणियों में उसका वितरण किया जाए। अन्नदान के महत्त्व को न समझनेवाले और अपने कोठों में बेहिसाब अन्न का संग्रह करनेवाले लोग तो निकृष्ट बुद्धिवाले, चिन्तनशीलता से रहित व्यक्ति ही हैं। इस प्रकार के अन्न का संग्रह करनेवाले का यह सारा वैभव समाज के लिए अनिष्टकारक तथा घातक है। वह अन्न और धन किस काम का, जिससे न तो किसी ज्ञानी विद्वान् का पालन हो और न अपने समानधर्मा सखा के जीवन-निर्वाह में ही उसका व्यय हो! नीतिकारों ने धन की त्रिविध गति बताते हुए दान को ही उसके व्यय का श्रेष्ठ प्रकार माना है। इसलिए वेद के अनुसार हम मिल-बैठकर भोजन करें, अन्नादि भक्ष्य पदार्थों को बाँटकर खाएँ। अकेला खानेवाला तो सचमुच पाप का ही भक्षण करता है। गीता के अनुसार जो स्वार्थी बनकर स्वयं ही खाते हैं वे मानो पाप को ही खाते हैं—**भुञ्जते ते त्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात्॥** (३/१३)

□□

[८०]

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋ० १०/१२१/३

देवता—**कः (प्रजापतिः)** ; ऋषि—**प्राजापत्यो हिरण्यगर्भः**

परमात्मा की महिमा का द्योतक यह मन्त्र ऋषि दयानन्द द्वारा अन्वित ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनारूपी माला का चौथा मनका है। महाराज ने स्वरचित संस्कार-विधि में इस मन्त्र की अतीव रोचक तथा प्रशस्त व्याख्या लिखी है। परमात्मा को इस सृष्टि का राजा (अध्यक्ष, नियन्ता) मानना चाहिए, किन्तु विचार की बात यह है कि परमात्मा का इस पद पर अभिषेक किसने किया? उत्तर में मन्त्र कहता है कि वह तो अपनी महिमा (महत्त्व) के कारण इस पद पर सदा से अभिषिक्त है। ऋषि के शब्दों में वह परमात्मा प्राणवाले और अप्राणिरूप जगत् का अपनी अनन्त महिमा से एक ही राजा विराजमान है। सांसारिक राजाओं की प्रजा तो सीमित संख्या तथा सीमित प्रदेश में रहनेवाली होती है, किन्तु विश्वब्रह्माण्ड के स्वामी इस राजा के शासन में तो समस्त भूतजगत् ही समाया है। दो पैरों के मनुष्य और चार पावोंवाले गौ आदि समस्त पशु (एवं पक्षी, चराचर कीट-पतंगयुक्त जीवजगत्) इस स्वामी की अधीनस्थ प्रजा हैं। अतः "हम लोग उस सुखदायक, कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिए सब सामर्थ्य से विशेष भक्ति करें।" 'कः' नाम प्रजापति का है, क्योंकि वह सुखस्वरूप है। हिरण्यगर्भ सूक्त के सभी मन्त्रों की समाप्ति **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** की कड़ी से होती है। इस मन्त्रांश के भिन्न-भिन्न अर्थ ऋषि दयानन्द ने संस्कार-विधि के स्तुतिप्रार्थनोपासना-प्रकरण में किये हैं।

□□

[८१]

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋ० १०/१२१/४

देवता—**कः (प्रजापतिः)** ; ऋषि—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः**

परमात्मा ने अपनी महिमा को कैसे प्रकट किया है? यदि इस प्रश्न का उत्तर हम जानना चाहें तो सर्वप्रथम हमें उसके द्वारा रची गई सृष्टि को ही देखना चाहिए। इस संसार में जो कुछ भव्य, विराट् और विशाल है, वह उसके रचयिता की महिमा का ही ज्ञापक है। बर्फ से लदी पर्वतों की चोटियों को देखें, हिमालय-जैसे पर्वत अपने हिम-धवल शिखरों के द्वारा उसी की महिमा का गान कर रहे हैं। जल के अपार संभार सागर के किनारे खड़े होकर उसके आर-पार तक दृष्टि डालें—इस विशाल जलराशि का रचयिता वह परमात्मा ही अपने अस्तित्व को प्रमाणित करता दिखाई देगा। सच तो यह है कि समुद्र में स्वयं को विलीन करने के लिए व्याकुल नदियाँ भी उसके ही महत्त्व का वर्णन कर रही हैं। यदि हम परम पुरुष की भुजाओं की कल्पना करें तो ये दिशाएँ ही उसकी भुजा-तुल्य हैं, जिनका चतुर्दिक् विस्तार इस सृष्टि तथा उसके निर्माता की महिमा का बखान करते हैं। आओ, हम सब मिलकर उस प्रजापति परमात्मा के लिए अपनी आत्मा को ही हविरूप में अर्पित करें। परमात्मा की भेंट धरने के लिए हमारे पास स्वयं के अतिरिक्त और है ही क्या! अन्य सांसारिक पदार्थ तो उसी के द्वारा प्रदत्त हैं। अतः आत्मा की हवि बनाकर उसे पूजना सर्वथा उपयुक्त है।

□□

[८२]

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋ० १०/१२१/८

देवता—**कः (प्रजापतिः)** ; ऋषि—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः**

परमात्मा की महिमा को अनेक रूपों में वर्णित किया जा सकता है। उस परमात्मा ने अपनी अपार महिमा से प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं तथा सूक्ष्म तन्मात्राओं को धारण किया है। वह उनपर सूक्ष्म दृष्टि रखता है तथा उन्हें अपने नियंत्रण में रखता है। उसी के अपार बल अथवा सामर्थ्य से यह सृष्टिरचना-रूपी यज्ञ सम्पन्न हो रहा है। सच पूछा जाए तो सृष्टिरूपी यज्ञ का संचालक वह ईश्वर ही है। उसी ने अपने व्यापक बल से संसार को उत्पन्न किया है और स्वयं स्रष्टा होकर भी तटस्थभाव से उसे समग्रतया देखता है। यों तो इस सृष्टि में जड़ तथा चेतन अनेक देवता विद्यमान हैं, किन्तु इन सभी दिव्य पदार्थों में श्रेष्ठ देव—महादेव तो वह एक परमात्मा ही है। हम सब सुखों के दाता परमात्मा की आज्ञापालन में रत रहें तथा योगाभ्यासपूर्वक उसी की भक्ति किया करें। यजुर्वेद (२७/२६) में यह मन्त्र इसी रूप में आया है। वहाँ प्रस्तुत मन्त्र का भावार्थ करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"हे मनुष्यो! जो आप लोग सबके द्रष्टा, धर्त्ता, कर्त्ता, अद्वितीय अधिष्ठाता परमात्मा को जानने के लिए नित्य योगाभ्यास करते हो तो उसका आनन्दफल भी आपको निश्चित रूप से प्राप्त होता है।" वस्तुतः प्रजापति परमात्मा ही हमारी भक्ति, आराधना तथा उपासना का पात्र है। हमारी समस्त हवियाँ उसी के लिए हैं।

□□

[८३]

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

—ऋ० १०/१२५/५

देवता—**आत्मा** ; ऋषि—**वागाम्भृणीः**

ऋग्वेद के इस सूक्त में पारमेश्वरी ज्ञानशक्ति का आत्मकथन-रूप में वर्णन है। इसमें जो यत्र-तत्र अहम् शब्द आया है वह सृष्टिकर्त्ता परमात्मा के लिए ही है। वह ईश्वरी शक्ति ही अपने महिमापूर्ण क्रियाकलाप का ओजस्विनी वाणी में स्वयं आख्यान करती है। संसार के मनुष्यों को देवों तथा सामान्य मानवों के रूप में द्विधा विभाजित किया जाता है। देखा जाए तो देव और मनुष्य अपने-अपने गुण, स्वभाव और चरित्र के अनुसार बोलते हैं, किन्तु सच पूछें तो अपने स्वभाव के अनुकूल वाणी के प्रयोग की यह शक्ति उन्हें परमात्मा से ही मिलती है। मनुष्य यों तो अपनी योग्यता के अनुसार कोई-न-कोई उपाधि प्राप्त कर ही लेता है, किन्तु उसकी प्रतिभा तथा कर्मण्यता को निखारने में पारमेश्वरी शक्ति का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है। वास्तव में परमात्मा ही जिसे जैसा बनाना चाहता है वैसा बना देता है। इसका यह अर्थ नहीं कि स्वयं के निर्माण में मानव का पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है, किन्तु अन्ततः परमात्मा का आशीर्वाद ही काम आता है। इसी भाव को मन्त्र का उत्तरार्द्ध प्रकट करता है—"मैं जिसे चाहूँ उसमें उग्रता का संचार करूँ, मेरी इच्छा से ही कोई विप्रत्व के गुण धारण कर ब्राह्मण बनता है, कोई अन्य ऋषि-कोटि को प्राप्त होकर धर्म का साक्षात्कार करता है और कोई स्वयं में उत्तम मेधा को धारण कर मेधावी कहलाता है।"

□□

[८४]

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥

—ऋ० १०/१२५/६

देवता—**आत्मा** ; ऋषि—**वागाम्भृणी**

परमात्मा उस व्यक्ति का तो निश्चित शत्रु ही है जो ज्ञानी तथा समाज के अग्रगन्ता ब्राह्मणवर्ग का द्वेषी है। कारण स्पष्ट है। ब्राह्मण वह है जो समष्टिहित के आगे स्वयं के हित को कुछ भी नहीं समझता। ऐसे परोपकार-निरत ब्राह्मणों का द्वेषी तो राक्षस या दानव ही हो सकता है। परमात्मा का कोप तो सदा ब्रह्मद्वेषी लोगों पर ही गिरा है, तभी रावण-जैसे ब्रह्मद्वेष्टा—वेदद्वेष्टा लोग संसार से समाप्त किये गए हैं। प्रस्तुत मन्त्र में भी परमेश्वर की वह तेजस्विनी शक्ति खुद कहती है-"ब्राह्मणों से द्वेष करनेवाले क्रूर हिंसक का हनन करने के लिए मेरा धनुष सदा तना रहता है।" यद्यपि दुष्ट के विनाश के लिए परमात्मा को किसी भौतिक धनुष की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु रुद्रवत् उसका मन्यु (क्रोध) ही धनुष बन कर वेदद्वेषियों का विनाश कर देता है। परमात्मा के सभी कृत्य लोकहित के लिए होते हैं। अहंकारी लोगों के साथ उसका संग्राम भी जनहित के लिए होता है। निश्चय ही परमात्मा की यह दिव्य शक्ति निखिल ब्रह्माण्ड में समाई हुई है। उसे हम द्युलोक में देखते हैं तो पृथिवीलोक में भी वही ब्राह्मी शक्ति सर्वत्र विद्यमान है। भला ब्रह्माण्ड में ऐसा कौन-सा लोक है जहाँ पारमेश्वरी शक्ति का निवास न हो? दुष्टों के दमन में मन्यु (क्रोध) की भी आवश्यकता होती है। इसलिए वेद करता है—**मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।**

□□

[८५]

इ॒यं विसृ॑ष्टि॒र्यत॑ आब॒भूव॒ यदि॑ वा द॒धे यदि॑ वा॒ न।
यो अ॒स्याध्य॑क्षः पर॒मे व्यो॑म॒न्त्सो अ॒ङ्ग वे॑द॒ यदि॑ वा॒ न वेद॑॥

—ऋ० १०/१२९/७

देवता—**भाववृत्तम्** ; ऋषि :—**प्रजापतिः परमेष्ठीः**

ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त का यह अन्तिम मन्त्र है। परमात्मा द्वारा सृष्टि की रचना तथा उसके संहार का रहस्यात्मक वर्णन इस सूक्त की विशेषता है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सृष्टिविद्याविषयक प्रकरण में प्रस्तुत मन्त्र का भाषार्थ इस प्रकार किया है—"जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह (ईश्वर) ही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और मालिक (अस्याध्यक्षः) भी है। हे मित्र लोगो! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है वही उसे प्राप्त होता है, और जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है। जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता और जब प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है और पुनः उसी से उत्पन्न होता है।" निश्चय ही यह सृष्टि जिस उपादानकारण से उत्पन्न होती है, उस उपादानकारण (अव्यक्त प्रकृति) का अध्यक्ष तो वह परमात्मा ही है। वह 'परमे व्योमन्'—महान् आकाश में वर्त्तमान रहता है अथवा उसे ही महान् आकाश कहना चाहिए। ब्रह्मसूत्र भी उसे आकाश कहकर ही पुकारता है—**आकाशस्तल्लिंगात्** (१/१/२२)। सृष्टि का निर्माण करना और प्रलयकाल में उसका संहार करना—यह भी परमात्मा के ही वश में है। जब वह प्रकृति को लक्ष्य करता है तब सृष्टि बनती है, और जब लक्षित नहीं करता तब प्रलय हो जाता है।

□□

[८६]

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥

—ऋ० १०/१३१/६

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**काक्षीवतः सुकीर्तिः**

वैदिक पद इन्द्र विविध अर्थों को देता है। ऐश्वर्यवान् तथा महान् शक्तिशाली होने से इन्द्र परमात्मा है, साथ ही इन्द्रियों का स्वामी और संचालक होने से जीवात्मा भी इन्द्र-पद से अभिहित किया जाता है। संसारी दृष्टि से देखें तो राजा तथा सेनापति के लिए भी इन्द्र का प्रयोग वेदों में मिलता है। वह इन्द्र हमारी सम्यक् प्रकार से रक्षा करता है इसलिए उसे 'सुत्रामा' (सम्यक् रीति से त्राण=रक्षा करनेवाला) कहा गया है। वह सामर्थ्यवान् भी है। सब प्रकार के ज्ञान एवं धन का स्वामी होने से वह 'विश्ववेदाः' है। हमारी प्रार्थना है कि वह इन्द्र हमारे लिए सुखद हो—हमपर सुखों की वर्षा करे। संसार में हम देखते हैं, एक ओर जहाँ सज्जन, धर्मात्मा और सदाचारी लोग हैं तो दूसरी ओर उनको कष्ट देनेवाले दुष्ट, दुरात्मा और दुर्जन भी कम नहीं हैं। ऐसे दुष्टजनों से अपनी रक्षा के लिए हम उसी शक्तिशाली इन्द्र को पुकारते हैं। वही इन दुष्टों का निग्रह करने में समर्थ है। हम उससे अभय की भी याचना करते हैं। वेद सर्वत्र, सर्वकाल में मनुष्य को निर्भीक देखना चाहता है। हम अपने मित्रों और शत्रुओं से अभय हों, हम ज्ञात और अज्ञात जनों से निर्भय रहें, दिन और रात में निर्भय होकर विचरें—वैदिक शिक्षा का यह प्रमुख स्वर है। उसी परमात्मा (इन्द्र) की कृपा से हम वीर्यवान् बनें, शक्तिशाली बनें। वैदिक प्रार्थना की तेजस्विता मन्त्र में स्पष्ट लक्षित होती है।

□□

[८७]

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे॥ —ऋ० १०/१३४/७

देवता—**इन्द्रः** ; ऋषि—**गोधा ऋषिका**

वेद-मतानुयायी आर्यों का आदर्श कैसा होता है, इसका सुन्दर वर्णन आलोच्य मन्त्र में हमें प्राप्त होता है। मन्त्रोच्चारण करनेवाला आर्यपुरुष सज्जनों, देवपुरुषों को सम्बोधित कर कहता है, 'हे देवगण! हम हिंसा का आचरण नहीं करते।' मन, शरीर और वाणी से किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ही हिंसा है और इससे विरत रहना अहिंसा है। अहिंसा को अष्टांगयोग के प्रथम अंग 'यम' में प्रथम स्थान प्राप्त है। मनु ने यद्यपि धर्म के दस अंगों की गणना करते समय अहिंसा को नहीं गिनाया, किन्तु ऋषि दयानन्द ने उसे धर्म का ग्यारहवाँ लक्षण घोषित किया।[१] हम किसी भी स्थिति में धर्म के प्रतिकूल आचरण भी नहीं करते। हमारे सारे कृत्य और आचरण धर्म के अनुसार ही होते हैं। सत्य तो यह है कि हम वैदिक मन्त्रों में निहित शिक्षाओं को सुनकर तदनुकूल आचरण करते हैं। हमारी दृष्टि में जो मन्त्रकथित कर्त्तव्य हैं, वे ही धर्म हैं और हम इसी वेदोक्त धर्म का पालन करते हैं। इस समाज में अनेक लोग हमारे सहयोगी और सहकर्मी हैं, जबकि परिवार में हमारे पुत्रादि परिजन हैं। हम इन सभी को साथ लेकर, उनको सहयोग देकर तथा उनसे सहयोग लेकर अपने कर्त्तव्यपालन में निरत रहते हैं। समाज, राष्ट्र और अखिल विश्व में शान्ति, सौमनस्य तथा परस्पर स्नेह तभी तक बना रहेगा जब तक लोग उक्त प्रकार से आचरण करते रहें।

□□

१. द्रष्टव्य—'पूना प्रवचन', तीसरा व्याख्यान।

[८८]

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥

—ऋ० १०/१३७/१

देवता—**विश्वे देवाः** ; ऋषि—**भरद्वाजः**

पतितों का उद्धार कर, असत् मार्ग पर चलनेवालों को सन्मार्ग पर लाना, अंधकार की ओर बढ़नेवालों को प्रकाश की किरण दिखाना सज्जन पुरुषों का काम है। वेद में इन सज्जन महानुभावों को सर्वत्र 'देव' कहकर पुकारा गया है। वेदों में इस देव शब्द की अत्यन्त महिमा है। देवों का सख्य करने तथा देवों-जैसी भद्र बुद्धि की कामना वेदों में यत्र-तत्र मिलती है। उत्थान और पतन मानवजीवन के साथ सदा जुड़े रहते हैं। अज्ञान, मूढ़ता तथा आवेश के कारण मनुष्य अवनति को प्राप्त करता है तो सज्जनों की संगति पाकर वह पुनः सदाचारी और श्रेष्ठ बन जाता है। मन्त्र में ऐसे ही पापियों को पुनः सन्मार्ग पर लाने की देवों से प्रार्थना की गई है। मन्त्र कहता है, हे विद्वान् जनो! जो लोग अपने दुष्कर्मों से अधोगति को प्राप्त हुए हैं, आप उन्हें उन्नति की राह पर ले-आएँ। यदि आप चाहेंगे तो ऐसे पापी लोग भी सन्मार्ग पर आ जाएँगे। जिन लोगों ने जाने-अनजाने अनेक पापकर्म किये हैं, उन्हें आप उन पापों से छुड़ाकर पुनः जीवनदान दे सकते हैं। अमींचंद मेहता और लाला मुंशीराम के उदाहरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि मनुष्य चाहे कितने ही अनिष्ट कर्मों में रत रहकर कलुषित जीवन व्यतीत करे, यदि ऋषि दयानन्द-जैसे देव का सदुपदेश और मार्गदर्शन उसे प्राप्त हो जाए तो वह पुनः सन्मार्ग का राही बन सकता है। पतितों का उद्धार कर उन्हें सच्चरित्र बनाना सबसे बड़ी सेवा है।

□□

[८९]

श्र॒द्धया॒ग्निः समि॑ध्यते श्र॒द्धया॑ हूयते ह॒विः।
श्र॒द्धां भग॑स्य मू॒र्धनि॒ वच॒सा वे॑दयामसि॥

—ऋ० १०/१५१/१

देवता—**श्रद्धा** ; ऋषि—**कामायनी श्रद्धा**

सत्य और श्रद्धा—धर्म के ये दो प्रधान अंग हैं। हमारे जीवन में जितना सत्य का महत्त्व है, उतना ही श्रद्धा का। यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है—**श्रद्धया सत्यमाप्यते** (१/५)—श्रद्धा के द्वारा सत्य को प्राप्त किया जाता है। श्रत् और धा इन दो शब्दों से मिलकर श्रद्धा शब्द बना है। श्रत् का अर्थ सत्य है, अर्थात् सत्य को धारण करना ही श्रद्धा है। इसके विपरीत अंधविश्वासों और रुढ़ियों को प्रश्रय देना अन्धश्रद्धा है, जो सर्वथा त्याज्य है। मनुष्य के जितने कृत्य हैं, यदि वे श्रद्धापूर्वक किये जाते हैं तो इनमें सफलता सुनिश्चित है। जब हम श्रद्धापूर्वक यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करते हैं तो वह उद्दीप्त होकर हुतद्रव्यों को ग्रहण कर लेती है। जिन पदार्थों को हम श्रद्धापूर्वक यज्ञाग्नि को समर्पित करते हैं, वे सम्यक् रीति से हुत होकर वायुमण्डल को सुगन्धयुक्त करते हैं। प्रत्येक कर्मकाण्ड में श्रद्धा का होना आवश्यक है। धर्माचरणपूर्वक हमने जो ऐश्वर्य (भग) प्राप्त किया है, उसमें श्रद्धा को तो हमने मूर्धास्थान पर रक्खा है। अभिप्राय यह है कि हम चाहे जितना ऐश्वर्य और वैभव संग्रह कर लें, यदि हममें श्रद्धा का भाव नहीं तो वह ऐश्वर्य-संग्रह व्यर्थ ही है। वैदिक धर्म के प्रवक्ताओं ने श्रद्धा के ऐसे ही महत्त्व का अपनी वाणी और लेखनी द्वारा निरूपण किया है। वेदों की इस श्रद्धा-विषयक घोषणा को हम भली-भाँति सुनें, तभी हम अपने जीवन एवं कर्म को सुपथगामी बना सकेंगे।

□□

[९०]

श्र॒द्धां दे॒वा यज॑माना वा॒युगो॑पा॒ उपा॑सते।
श्र॒द्धां हृ॑द॒य्य१॒॑याकू॑त्या श्र॒द्धया॑ विन्दते॒ वसु॑॥

—ऋ० १०/१५१/४

देवता—**श्रद्धा** ; ऋषि—**कामायनी श्रद्धा**

इस श्रद्धासूक्त का देवता श्रद्धा कामायनी है, जिसे प्रधान पात्र बनाकर महाकवि जयशंकर प्रसाद ने अपने 'कामायनी'-संज्ञक महाकाव्य की रचना की थी। आलोच्य मन्त्र में यह बताया गया है कि विद्वान् देवगण तथा वैदिक कर्मकाण्ड में निष्ठा रखनेवाले यजमानगण इस श्रद्धा को कैसे प्राप्त करते हैं। मुख्यरूप से इस श्रद्धा की उपासना के दो साधन हैं। प्रथम है प्राणायाम। प्राणायाम से इन्द्रियों के मल तो दूर होते ही हैं, उससे प्राणों में बल का संचार भी होता है। मनुष्य की जीवनीशक्ति की वृद्धि और विकास भी प्राणायाम के द्वारा होता है, अतः प्रत्येक विद्वान् एवं यजनशील व्यक्ति को प्राणों के संयम द्वारा श्रद्धाभाव को उपार्जित करना चाहिए। दूसरा साधन है हृदय की संकल्पवृत्ति, जिसे वेद में 'आकूति' कहा गया है। मनुष्य के संकल्प की दृढ़ता भी श्रद्धाभाव को धारण कराने में सहायक होती है, अतः मन में शिवसंकल्प रहें, यह वैदिक प्रार्थना की एक अनिवार्य फलश्रुति है। सत्य तो यह है कि हम अपने में श्रद्धा के इस सर्वोच्च भाव को बसा लें तो इससे 'वसु'-संज्ञक वे सभी पदार्थ हमें प्राप्त हो सकेंगे जो सामान्य रूप से ऐश्वर्य और धन ही हैं, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से श्रेष्ठ गुण और आचरणों की ही वसु संज्ञा है। ऐसा ऐश्वर्य ही मनुष्य का अभीष्ट होना चाहिए और इसकी प्राप्ति श्रद्धा-जैसे उदात्तभाव को धारण करने से ही सम्भव है।

□□

[९१]

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

—ऋ० १०/१५१/५

देवता—**श्रद्धा** ; ऋषि—**कामायनी श्रद्धा**

श्रद्धा का भाव हमारे दैनन्दिन जीवन का एक अनिवार्य क्रम बने—यह वेद की भावना है। श्रद्धा से ही आस्तिकता की भावना पैदा होती है। सृष्टि के रचयिता और पालनकर्त्ता के प्रति विश्वास, प्रीति और भक्ति रखना ही आस्तिकता है। जब हम प्रातः और सायं संध्योपासना के द्वारा परमात्मा की भक्ति करते हैं तो वह हमारे हृदय में उस परम पिता के प्रति विद्यमान श्रद्धा ही है। इसी श्रद्धा का हम प्रातः और सायंकाल आह्वान करते हैं। यदि श्रद्धा के भाव से विरहित होकर उपासना की जाती है तो वह उपासना न होकर केवल ढोंग या मिथ्याचरण है। इसलिए वेद का कथन है—हे उपासक जनो! तुम प्रातःकाल के समय जब संध्या करने बैठो तो श्रद्धा का आह्वान करो ताकि तुम्हारी भक्ति और उपासना सार्थक हो। जब सूर्य अस्ताचल की ओर जाने लगे और सायंकालीन उपासना का समय आए तो उस समय भी तुम्हारी आत्मा और अन्तःकरण श्रद्धायुक्त होने चाहिएँ। दिन के मध्य भाग में, जब अन्य लोक-व्यवहार सम्पन्न किये जाते हैं, उस समय भी श्रद्धा की भावना से ही हमारा हृदय आपूरित रहे। अतः हम कहें—हे श्रद्धे! हमारे इस सम्पूर्ण जीवन को तू श्रद्धामय कर दे। श्रद्धा और आस्तिकता ये दो गुण ऐसे हैं, जो मानव को सच्चा मानव बनाते हैं। इनके अभाव में जीवन को शून्य समझना चाहिए।

□□

[९२]

मम॑ पु॒त्राः श॑त्रु॒हणो॒ऽथो॑ मे दु॒हि॒ता वि॒राट्।
उ॒ताहम॑स्मि सं॒ज॒या पत्यौ॑ मे॒ श्लोक॑ उ॒त्तमः॥

—ऋ० १०/१५९/३

देवता—**पौलोमी शची ; ऋषि—पौलोमी शची**

नारियों के प्रति सम्मान-भावना वैदिक समाजशास्त्र की एक अनिवार्य फलश्रुति है। वेदों में सर्वत्र नारी की महिमा, गरिमा, मनस्विता तथा वीरता उल्लिखित हुई है। वह जब अपने गृहस्थ का संचालन करती है तो उसके समक्ष कुछ उच्च आदर्श होते हैं। वह अपनी सन्तान का पालन और उसके भविष्य का निर्माण भी इन्हीं आदर्शों को दृष्टि में रखकर करती है। एक ऐसी ही वीर नारी की गर्वोक्ति को मन्त्र में आत्मकथ्यात्मक शैली में अभिव्यक्त किया गया है। इस ऋग्वेदीय सूक्त की ऋषिका मन्त्रगत भावों को जानकर उनका प्रचार करने में भी समर्थ एक नारी है जो 'पौलोमी शची' के नाम से विख्यात थी। वेद की नारी की घोषणा को सुनें—"मेरे पुत्र शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ हैं। मैंने ऐसे ही पुत्रों को जन्म दिया है, जो युद्ध में अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ दिखाकर शत्रुजनों का निग्रह करते हैं। मेरी कन्या तो ज्योतिष्मती है। वह जिस घर में बहू बनकर जाएगी, अपने प्रभाव के द्वारा वह वहाँ पर ज्योति का विस्तार कर श्वसुरगृह को प्रकाशित करेगी। मैं स्वयं तो अपने गृहस्थ की केन्द्र ही हूँ, क्योंकि इस बृहत् भार को सँभालने की क्षमता मुझमें है। मेरे पति का यश तो सर्वत्र प्रशंसनीय है। वे इतने उत्तम चरित्रवाले हैं कि लोग सर्वत्र उनकी प्रशंसा करते हैं।" वैदिक नारी के इस आदर्श को वेदों ने सम्यक्तया स्थापित किया है। सम्पूर्ण सूक्त ही नारी की वीर-भावनाओं को अभिव्यक्ति देता है।

□□

[९३]

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥

—ऋ० १०/१६४/१

देवता—**दुःस्वप्ननाशनम्** ; ऋषि—**प्रचेता आंगिरसः**

मानव की कुछ अपनी सीमाएँ हैं। वह देवता बनना चाहता है, किन्तु दानव बन जाता है। भद्र चिन्तन, भद्र आचरण को छोड़कर कभी-कभी हम राक्षस-तुल्य आचरण करने लगते हैं। न चाहने पर भी हमारे मन में अन्यों के प्रति क्रोध, अन्याय तथा द्रोह की भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। इसी प्रकार की दुर्भावनाओं के नाश के लिए विचारशील मनुष्य को सतत प्रयत्न करना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब हम निरन्तर परमात्मा से यह प्रार्थना करते रहें—हे अन्तर्यामिन्! तू हमें द्वेषबुद्धि से बचा। संध्या के अन्तर्गत मनसापरिक्रमा के छह मन्त्रों का नियोजन भी इसी अभिप्राय से किया गया है, जहाँ हम बार-बार अपने मन में अन्यों के प्रति उत्पन्न द्वेषभाव को परमात्मा के सम्मुख समर्पित करने का विचार व्यक्त करते हैं। आलोच्य मन्त्र में भी साधक भक्त परमात्मा को सम्बोधित करता है तथा उनसे निवेदन करता है कि मानवसुलभ दुर्बलता के कारण हम यदा-कदा अन्यों के प्रति दुर्भावना रखते हैं, उनके प्रति हिंसाभाव ले-आते हैं तथा उनका अनिष्ट-चिन्तन करते हैं। हे आंगिरस परमेश्वर! उस द्वेष से उत्पन्न पाप से हमारी रक्षा कर। परमात्मा तो सर्वज्ञ और अन्तर्यामी होने से हमारे मन में उत्पन्न अच्छे-बुरे सभी भावों को जानता है, इसलिए पापों से हमें वही उबार सकता है। द्रोह और द्वेष का यह भाव अनिष्टकारक है। हम इससे सदा बचते रहें।

□□

[९४]

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ।।

—ऋ० १०/१६८/४

देवता—**वायुः** ; ऋषि—**वातायनोऽनिलः**

समस्त ज्ञान का निधान होने के कारण वेदों में परा (आध्यात्मिक) और अपरा (लौकिक) दोनों विद्याएँ यत्र-तत्र प्रतिपादित हुई हैं। पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—ये वे पञ्चभूत हैं जो इस चराचर सृष्टि के उपादान हैं। यद्यपि ये भूत (इन्हें देवता भी कहा गया है) जड़ हैं, किन्तु परमात्मा की शक्ति को ग्रहण कर उसी की प्रेरणा से ये अपने क्रियाकलाप का प्रदर्शन करते हैं। केनोपनिषद् में आए उपाख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि वायु को जो संचरण तथा अन्य पदार्थों को उड़ा ले-जाने की शक्ति मिली है, वह वस्तुतः परमात्मा की ही है। यह वायु पृथिवी, जल, तेज आदि अन्य देवों का आत्मा-तुल्य है। यदि हम संसार के सभी प्राणियों को आत्मा कहकर सम्बोधित करें तो वायु ही उनका जीवनदाता आत्मा है। संसार को प्राण देनेवाला होने के कारण वायु उसका गर्भ (मूल) है। यह ऐसा देवता है जो स्वेच्छापूर्वक निर्द्वन्द्वभाव से सर्वत्र विचरता है। इसकी एक विशेषता यह है कि यद्यपि इसकी आवाज (वायु का गर्जन-तर्जन) तो हम सुनते हैं, किन्तु इसके रूप को नहीं देख पाते। वायु अरूप है। ऐसे वायु के लिए, उसकी शुद्धि के लिए हम अग्निहोत्र में हवि अर्पित करें। प्रो० मैकडॉनल ने अंग्रेजी में इस मन्त्र के भाव को इस प्रकार लिखा है—Breath of the gods, germ of the world, this god (वात) fares according to his will. His sounds are heard but his form is not seen. To that *Vata* we would pay worship and oblation.

□□

[९५]

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥

—ऋ० १०/१९०/१

देवता—**भाववृत्तम्** ; ऋषि—**माधुच्छन्दसोऽघमर्षणः**

इस मन्त्र को ऋषि दयानन्द ने दैनिक संध्याविधि में अघमर्षण प्रकरण में रक्खा है। परमात्मा सृष्टि की रचना करता है और पूर्वरचित सृष्टि की भाँति प्रत्येक बार नई रचना करता है। ऋषि ने इस मन्त्रक्रम को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि पाप-दूरीकरणार्थ परमात्मा द्वारा सृष्टिरचना का प्रतिपादन करनेवाले इन मन्त्रों का हमें चिन्तन करना चाहिए। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—"सब जगत् का धारण और पोषण करनेवाला परमात्मा 'धाता' है और सबको अपने वश में रखने के कारण वही 'वशी' है। जैसे उसने पूर्वकल्प में सृष्टि की रचना की थी, उसी प्रकार वह ईश्वर अपने ऋत-नियमों तथा सत्यरूपा प्रकृति से इस सृष्टि को रचता है। इसमें उसका ज्ञानमय तप भी कारण बनता है।" किसी रचना के पीछे रचयिता का तप (अनन्यता तथा निष्ठा) विद्यमान रहता है। जब इस सृष्टि का काल समाप्त हो जाता है तो रात्रि-तुल्य प्रलय-काल उपस्थित होता है। तदनन्तर उसी सामर्थ्य से गतिमान परमाणुरूपी समुद्र प्रसिद्ध होता है। अघमर्षण के तीन मन्त्रों के उच्चारण तथा चिन्तन का फल स्वामी जी इस प्रकार लिखते हैं—"सृष्टि-रचनाकार के माहात्म्य को जानकर तथा समझकर हम मन, वचन और कर्म से पापों से बचने का यत्न करें, यही अघमर्षणक्रिया का फल है।" ईश्वर मनुष्य के अन्तःकरण का साक्षी है, इसलिए मनुष्य पापकर्मों के आचरण को सर्वथा छोड़ दे, यही इस क्रिया का उद्देश्य है।

□□

[९६]

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥

—ऋ० १०/१९०/२

देवता—**भाववृत्तम्** ; ऋषि—**माधुच्छन्दसोऽघमर्षण:**

परमात्मा को प्रस्तुत मन्त्र में 'वशी' कहा गया है, जो सबको वश में रखनेवाले ईश्वर का वाचक है। उसकी सामर्थ्य से ही पृथिवीस्थ तथा अन्तरिक्षस्थ महान् समुद्र उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् संवत्सर के रूप में कालचक्र का प्रवर्तन होता है। परिणामत: रात्रि, दिवस, घड़ी, पल (क्षण) आदि का कालविभाग मनुष्य के हितार्थ किया जाता है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—"गतिमान् परमाणु-समुद्र के पश्चात् विश्व का काल नियत होता है, फिर गति करते हुए सूर्य-चन्द्र आदि पिण्डों के व्यवहारार्थ परमात्मा द्वारा रात और दिन नियत किये जाते हैं।" सृष्टिरचना के इन सभी आयामों को पूर्ण करनेवाला परमात्मा है, क्योंकि उसे समस्त विश्व को अपने अनुशासन और अधिकार में रखनेवाला कहा गया है। अघमर्षणमन्त्रों की व्याख्या लिखने में महर्षि का यही अभिप्राय था कि यह जगत् ईश्वर के नित्य सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है और अन्तर्यामी होने के कारण वह सभी जीवों के पाप-पुण्यों को भली-भाँति देखता है। यदि मनुष्य परमात्मा के सृष्टिरचनारूपी अनन्त सामर्थ्य का वर्णन करनेवाले इन मन्त्रों का अर्थज्ञान के साथ चिन्तन करे तो वह पाप-कर्मों से सदा पृथक् रहेगा। उसके समक्ष ईश्वर के उस विराट् सामर्थ्य और शक्ति का सिद्धान्त सदा आता रहेगा और वह पाप-कृत्यों से बचने का यत्न करेगा। साधक को चाहिए कि इन मन्त्रों का पाठ करते समय वह अपने मन को प्रबोधित करे और पापकर्मों से दूर रहे।

□□

[९७]

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

—ऋ० १०/१९०/३

देवता:—**भाववृत्तम्;** ऋषि:—**माधुच्छन्दसोऽघमर्षण:**

सृष्टिरचना की प्रक्रिया परमात्मा द्वारा सुष्ठु रूप से निर्धारित की गई है। उपनिषदों में कहा गया है-"**तस्माद्वा एतस्मादात्मन: आकाश: सम्भूत:। आकाशाद्वायु:। वायोरग्नि:। अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी। पृथिव्या ओषधय:। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेत:। रेतस: पुरुष:। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय:॥**" (तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली-१)

उस निमित्तकारण परमात्मा तथा उपादानरूपा प्रकृति से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ओषधि अन्न, वीर्य और अन्तत: पुरुष की उत्पत्ति होती है। संसार को धारण करनेवाले धाता परमात्मा ने तो सूर्य-चन्द्रादि नक्षत्रों को पूर्वकल्प की ही भाँति बनाया है। पूर्वकल्प में सृष्टिरचना का जो प्रकार रहता है, उसे ही प्रत्येक कल्प में दोहराया जाता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा पृथिवीलोक आदि सभी लोक-लोकान्तर पूर्वकल्पों की भाँति रचे जाते हैं। ऋषि दयानन्द की यहाँ टिप्पणी है कि जैसे अनादि काल से लोक-लोकान्तरों को जगदीश्वर बनाया करता है, वैसे ही अब भी बनाए हैं और आगे भी बनावेगा, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान कभी विपरीत नहीं होता। पूर्ण और अनन्त होने से परमात्मा का ज्ञान सदा एकरस रहता है। उसमें वृद्धि, क्षय तथा विपरीतता (उलटापन) कभी नहीं होता। 'यथापूर्वमकल्पयत्' पद से इसी तथ्य को ग्रहण करना चाहिए। वर्त्तमान सृष्टि तो सान्त है, किन्तु सृष्टिरचना प्रवाह से अनादि और अनन्त है।

□□

[९८]

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

—ऋ० १०/१९१/२

देवता:—**संज्ञानम्**; ऋषि:—**संवनम आंगिरस:**

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में मिलकर रहता है और अपने सदृश अन्यों से प्रीति, मैत्री तथा बंधुत्व के सूत्रों में बँधता है। वेद भी सामाजिक संगठन का उपदेश देते हैं तथा मनुष्यों को एक-साथ रहने, विचारने, बोलने तथा प्रगति के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ने का उपदेश देते हैं। आर्यसमाजों के साप्ताहिक सत्संगों की समाप्ति इसी संज्ञानसूक्त के सार्थ-पाठ से होती है। मन्त्र में परमात्मा उपदेश देता है—"हे मनुष्यो! आप लोग एक-साथ मिलकर लक्ष्य-प्राप्ति के लिए आगे बढ़ो। तुम्हारा संवाद एक-सा हो। परस्पर विवाद और असहमति के स्वर निकालने की अपेक्षा तुममें एक निर्णय पर पहुँचने की क्षमता होनी चाहिए। तुम्हारे मन में जो विचार उद्भूत हों उनमें भी समानता और एकतानता होनी चाहिए। तुमसे पहले के लोग जो तुम्हारे पूर्वज थे, जिस प्रकार मिल-बैठकर परस्पर सहमत और एकमत होकर अपने अधिकार या लाभ को प्राप्त करते थे, आप भी उसी प्रकार मनस्वी विद्वान् पूर्वजों की भाँति अपने अभीष्ट को प्राप्त करते रहो।" मन्त्र का मौलिक भाव यही है कि मनुष्य-समाज की विभिन्नता में भी एकता हो तथा सभी जन प्रेम के सूत्र में बँधकर परस्पर स्नेहयुक्त संवाद करें, एक-दूसरे के सुख-दु:ख के साथी बनें। इस संगठनभाव से ही वे उन्नति तथा प्रगति कर सकेंगे।

□□

[९९]

**समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥**

—ऋ० १०/१९१/३

देवता—**संज्ञानम्** ; ऋषि—**संवनन आंगिरसः**

संगठन के संदर्भ में वेद का उपदेश गत मन्त्र से आगे चलता है—"हे मनुष्यो, तुम्हारे विचार एक-से हों।" 'मन्त्र' नाम विचार का है। जब तक विश्वसमाज में वैचारिक एकता नहीं होगी तब तक उसकी सामाजिक एकता स्वप्नवत् ही रहेगी। मनुष्य सामाजिक कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिए जिन सभा-समितियों का निर्माण करता है, प्राय: वैचारिक एकता न होने के कारण उनमें विसंवादी स्वर उभरते रहते हैं। वेदमन्त्र कहता है कि इन समितियों तथा इतर कार्यप्रवृत्तियों में भी हम एकता का परिचय दें। हमारे मन और चित्त भी एक हों। मननशीलता तथा संकल्प-विकल्पों का धारण मन के द्वारा होता है, जब कि इन्द्रियों के विषयों से सम्पर्क होने से जो संस्कार बनते हैं उनका ग्रहण चित्त से होता है, अत: मनुष्य-समाज के सभी सदस्यों में मानसिक एकता रहे तथा उनके चित्त भी एक से हों। परमात्मा मानो आशीर्वाद देता हुआ कहता है कि मेरी कृपा तथा अनुग्रह से तुम्हारे मनों में एकता बनी रहेगी। मन्त्रान्त में वह कहता है—जब-जब तुम कोई पदार्थ किसी को देना चाहो, यज्ञ में अपनी हवि अर्पित करना चाहो तो वह कार्य भी तुम्हारा धर्मयुक्त तथा आप्त लोगों से अनुमोदित होना चाहिए। मनुष्य की परमेश्वर के प्रति प्रार्थना-उपासनारूपी जो हवि है उसे सम्यक्-रूपेण एक-मना होकर अर्पित करने का आदेश ही मन्त्र का मूल अभिप्राय है।

[१००]

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

—ऋ० १०/१९१/४

देवता—**संज्ञानम्** ; ऋषि—**संवनन आंगिरसः**

ऋग्वेद-संहिता का यह अन्तिम मन्त्र है। मनुष्य को ईश्वरप्रदत्त सामाजिक एकता के उपदेश का यह उपसंहारात्मक वाक्य है। प्रत्येक मनुष्य में एक प्रकार की अस्मिता होती है, उसकी अहंता का यह भाव ही 'आकूति' कहलाता है। अस्मिता की रक्षा से मनुष्य के स्वाभिमान का रक्षण होता है और वह स्वयं के गौरव तथा महत्त्व को प्रख्यापित करता है। इस आकूति के भाव में भी एकता की आवश्यकता है। यदि हमारी अहंताओं का परस्पर टकराव होगा तो समाज में संघर्ष की स्थिति बन जाएगी जो सर्वथा अवांछनीय होगी। मन्त्र का आदेश हमारी हृदयों की एकता को लेकर है। यज्ञोपवीत-संस्कार के अवसर पर आचार्य **'मम व्रते ते हृदयं दधामि'**—पारस्कर सूत्र (२/१/१६) का उक्त मन्त्र बोलकर वाणी और विद्या के स्वामी 'बृहस्पति' से प्रार्थना करता है कि परमात्मा शिष्य और आचार्य को एक-से व्रताचरण में रत रहने की शक्ति प्रदान करे। इसी मन्त्र में स्वल्प परिवर्तन कर विवाह के अवसर पर वर 'प्रजापति' परमात्मा से ऐसी ही प्रार्थना करता है। इस प्रकार हृदयों की एकता मनुष्य-समाज में सर्वत्र उपादेय एवं वाञ्छनीय समझी गई है। मन की समानता की बात कर अन्त में मन्त्र कहता है—तुम एक-दूसरे की सहायता करते हुए अपने धन-धान्य, सुख-ऐश्वर्य और परमानन्दरूपी मोक्ष की प्राप्ति के लिए निरन्तर आगे बढ़ते रहो। गीता ने भी यही कहा है—एक-दूसरे को प्रसन्न करते हुए ही हम परमश्रेय को प्राप्त होते हैं।

□□